ISSN : 2320-7604
Listed in UGC Care journal
October, 21, Part 1, Serial.No. 143
RNI NO. : DELHIN/2008/27588

त्रैमासिक

बहुरि नहिं आवना

संयुक्तांक-19
जनवरी 2022 - जून, 2022
मूल्य : 20 रुपए

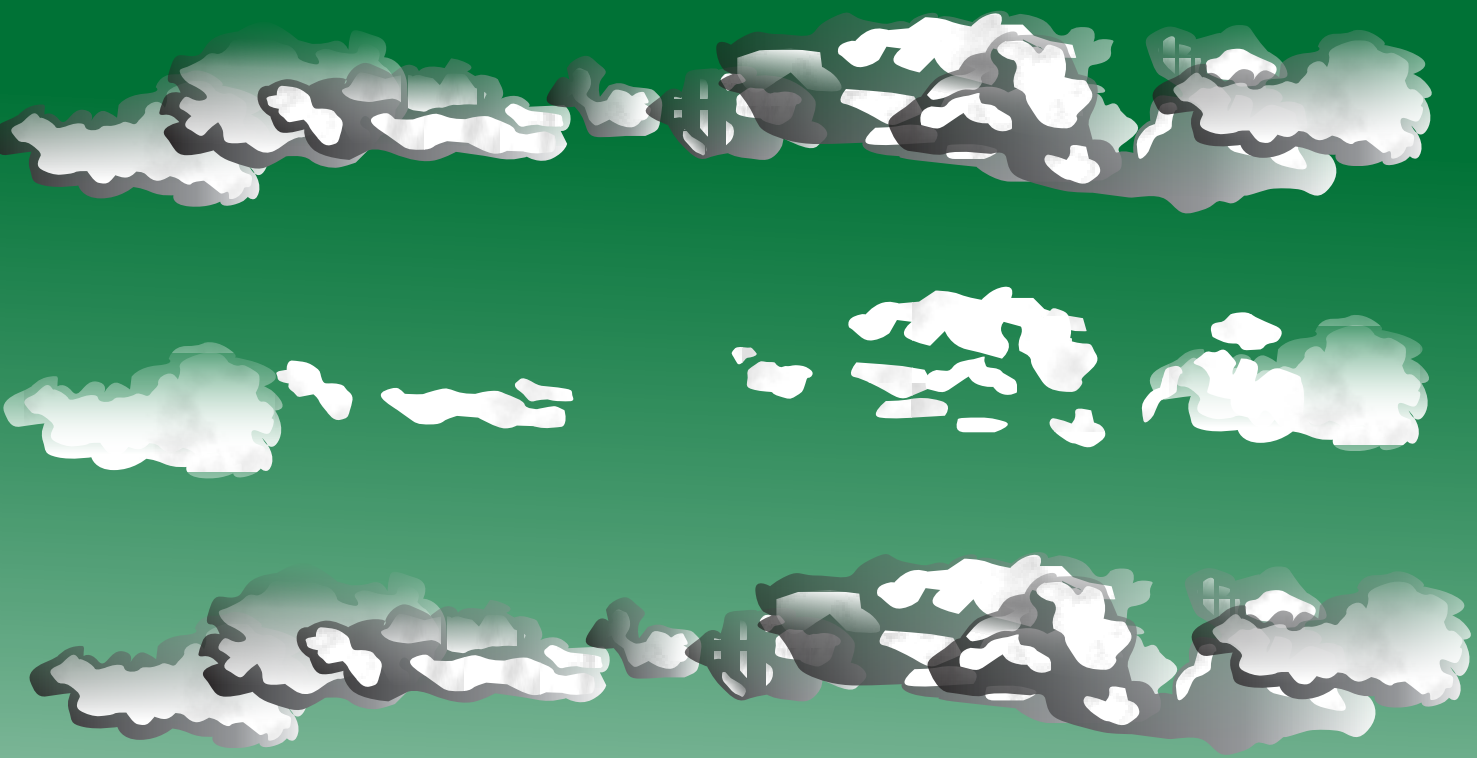

आजीवक महासंघ ट्रस्ट द्वारा निर्गत

संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य

वर्ष : 14
संयुक्तांक : 19
अंक : जनवरी, 2022 - जून, 2022
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 100 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 500 रुपए
आजीवन सदस्यता : 2500 रुपए

संपादकीय पता

जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाइल : 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate

Full Page–Rs. 20,000/-
Half Page–Rs. 10,000/-
Qtr. Page–Rs. 5,000/-
Back Cover –Rs. 40,000/-
(four colour)
Inside Front –Rs.35,000/-
(four colour)
Inside Back –Rs.. 35,000/-
(four colour)

Mechanical Data

Overall Size 27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area 24 cms x 18 cms
Half Page 12 cms x 18 cms or
24 cms x 9 cms
Qtr Page12 cms x 9 cms

प्रधान संपादक

प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'

संपादक

प्रो. दिनेश राम

सहायक संपादक

डॉ. अनिरुद्ध कुमार सुधांशु
डॉ. सुनीता देवी

भाषा सहयोग

डॉ. हेमंत कुमार हिमांशु
डॉ. राजकुमार राजन

कानूनी सलाहकार

एड. सतपाल विर्दी
एड. संदीप दहिया

संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ

डॉ. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी, प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार, डॉ. चन्देश्वर, डॉ. दीनानाथ, डॉ. मोहन चावड़ा, विजय सौदायी, डॉ. यशवंत वीरोदय, डॉ. सुरेश कुमार, डॉ. मनोज दहिया

अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ

ओमप्रकाश वाधा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम, डॉ. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डॉ. बयात रहमातोव, डॉ. सिराजुद्दीन नूरमातोव

* पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।
* पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
* अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।
* 'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।
* स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली- 30 से प्रकाशित।
* 'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

संपादकीय : 'द चमार' : शताब्दी पार करती एक किताब	*–प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'*	3
हिन्दी दलित कविता में अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव	*–डॉ. अजय कुमार*	6
हिन्दी दलित कविता में संवैधानिक मूल्यों की अनुगूँज	*–अनुज कुमार*	9
सलाम : दलित-चेतना की पैरवी करती कहानियाँ	*–डॉ. तरुण*	13
डॉ रजत रानी मीनू की कहानियों में दलित-विमर्श	*–डॉ. मोहम्मद इसराइल*	18
वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य की उपादेयता	*–डॉ. कृपा शंकर*	22
हिन्दी सिनेमा में दलित-विमर्श	*–संजय कुमार सिंह*	26
महान वैज्ञानिक मेघनाद साहा का जाति के विरुद्ध संघर्ष	*–प्रेम कुमार*	29
धर्मांतरण के अंतर्द्वन्द, संघर्ष और 'सनातन' (शरण कुमार लिंबाले के उपन्यास 'सनातन' पर कुछ वैचारिक बिंदु)	*–डॉ. टेकचन्द*	33
विरल अनुभवों की सूक्ष्म ज्यामिति का काव्य संसार	*–डॉ. मुकेश कुमार मिरोठा*	36
समकालीनता और हिन्दी साहित्य	*–डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष*	40
समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में आदिवासी संस्कृति एवं विमर्श	*–डॉ. जयसिंह मीना* *–डॉ. केदार प्रसाद मीना*	43
राष्ट्रवाद का करिश्मा और हिन्दी सिनेमा	*–डॉ. कुमार भास्कर*	47
जीवनीपरक होता सिनेमा का रंग	*–अनुपम कुमार*	51
नई कविता का पुनर्मूल्यांकन	*–डॉ. राम चरण मीना*	55
हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त बाजार	*–ममता देवी*	58
विमर्श : सन्दर्भ हानूश	*–डॉ. पूनम सिंह*	61
प्रयोगवादी काव्य और अज्ञेय	*–रश्मि मिश्रा*	65
उन्नीसवीं शताब्दी की स्त्री-शिक्षा व्यवस्था और सावित्रीबाई फुले	*–रानी कुमारी*	68
सबाल्टर्न आत्मकथायें-आत्मसंघर्ष का वृत्तांत	*–डॉ. राजकुमार राजन*	72
'प्रार्थना में पहाड़' उपन्यास में अभिव्यक्त पर्यावरणीय चिंतन	*–ओमवती*	76
प्राचीन भारतीय समाज का मुख्य अवदान	*–डॉ. भारती कुमारी*	78
मध्यकालीन भक्त संतों की बायोपिक फिल्म में लोकप्रिय जीवन-आख्यान और युग-बोध	*–समरेन्द्र कुमार*	81
भरत, ब्रेख्त और स्तानिस्लावस्की के सिद्धान्त : अभिनय संदर्भ	*–डॉ. मधु कौशिक*	87
राजस्थानी लोक संस्कृति का स्वरूप	*–डॉ. केदार प्रसाद मीना* *–डॉ. जयसिंह मीना*	91
अस्मिता के लिए संघर्षशील आदिवासी	*–डॉ. राम किशोर यादव*	95
कबीर और संगीत	*–रोहित कुमार*	100
ब्रजकालीन समाज में राजनैतिक परिस्थितियाँ	*–डॉ. राम रतन प्रसाद*	103
दुख का अधिकार कहानी का पुनर्पाठ	*–डॉ. सीमा रानी*	106
कविताएं	*–डॉ. रजत रानी 'मीनू'*	110

संपादकीय

'द चमार' : शताब्दी पार करती एक किताब

जी. डब्लू. ब्रिग्स द्वारा अंग्रेजी में लिखित 'द चमार' पुस्तक जिस का उपशीर्षक 'रिलीजियस लाइफ ऑफ इंडिया' है। अपने जन्म के 102 साल पूरे करने जा रही है। यह पुस्तक कलकत्ता, मद्रास और बांबे के अलावा लंदन, न्यूयार्क (यू. एस. ए.), टोरंटो (कनाडा), मेलबोर्न (ऑस्ट्रेलिया) से एक साथ प्रकाशित हुई थी। कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड में यह शोध स्रोत के रूप में ली गई थी। सूचनाओं, तथ्यों और आंकड़ों से भरी इस पुस्तक की रचना शोध एवं सर्वे पद्धति से की गई। चमार जाति के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का इतना सूक्ष्म प्रामाणिक अध्ययन व दस्तावेजीकरण अन्यत्र दुर्लभ है।

'द चमार' पुस्तक 31 जनवरी, 1920 को पहली बार प्रकाशित हुई। इसी साल 31 जनवरी, 1920 को डॉ. अम्बेडकर के पहले मराठी पाक्षिक 'मूकनायक' का प्रवेशांक आया। देश में जब से अंग्रेजी विद्या का चलन बढ़ा है तब से निजी स्कूलों का मुख्य व्यवसाय अंग्रेजी बेचना हो गया है। कम आय वाले वर्गों की नई पीढ़ी भी अंग्रेजी में ही अपनी उन्नति का भविष्य देख रही है। उसे देशज भाषाओं के बरक्स अंग्रेजी सहज होती जा रही है। पर, माल की भांति आकर्षक पैकेज में बिक रही अंग्रेजी, निर्धन भारत की खरीद से परे है। ऐसे में अंग्रेजी मूल की पुस्तक 'द चमार' पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। प्रथम संस्करण की मूल प्रति इस लेखक को डेड़ दशक पूर्व 1966 बैच के प्रतिष्ठित आइ.ए.एस. अधिकारी श्री सियाराम आर्य द्वारा भेंट स्वरूप प्राप्त हुई थी। देश आज आजादी के इतिहास की ओर शिद्दत से देख रहा है, ऐसे में तत्कालीन साहित्य रूपी दपर्ण में झांकना समीचीन है। आवरण पर 'बरगद' वृक्ष का चित्र अंकित है। चूंकि प्रकृति प्रिय चमार बरगद की पूजा किया करते थे। यूरोप की यात्राएं ब्रिटिश सेना के रूप में 'चमार रेजिमेंट', 'महार रेजिमेंट' की भांति विश्व युद्धों में वीरता प्रदर्शित कर रहे थे।

लेखक जी. डब्लू. ब्रिग्स ने पुस्तक में चमारों की किसी अन्य जाति से तुलना नहीं की है। अध्ययन को संयुक्त प्रांत के चमारों तक सीमित रखा है। मोची-चमार, कृषक-चमार, चर्मकार-चमार इत्यादि। चूंकि लेखक का संबंध जनगणना से रहा, इसलिए संकलित सूचनाएं प्रामाणिक व तथ्य संगत रही हैं। चमार ऋषि ायों के लिए खालों की मृगछालाएं, युद्धों के लिए ढालें, पेयजल के लिए मुसक, सिंचाई के लिए पुरहे, पैरों के लिए जूते और सिर की रक्षार्थ लैदर के हैड तैयार किया करते थे। वे खाल को बदबू मुक्त करने के कौशल से संपन्न थे। लेखक ब्रिग्स का उद्देश्य चमारों की स्थिति का यथार्थ एवं न्यायपूर्ण विवरण प्रस्तुत करना था। अस्तु, चमारों के धर्म और विश्वास, जादू टोने, रीति-रिवाज पूजा

पद्धति, विवाह, व्यवसाय इत्यादि का विवरण भी दर्ज किया है। अध्ययन के स्रोतों के तौर पर स्कॉलर इब्बस्टन, क्रुक, रोज, रसेल आदि की रचनाओं के संदर्भ और सिविल तथा मिशनरी क्षेत्रों की सहायताएं लीं। चमार कोई एक जाति नहीं, बल्कि जातियों का समूह है, जिस की 11057 उपजाति ₹ ाखाएं प्रस्फुटित हुईं। जैसे चमार जटिया, जैसवार, चमार-जुलाहा, कुरील (फिर्रूखाबाद), पुरबिया, कोरी/कोली, अहरवार, (बुंदेलखण्ड), धुसिया या झुसिया, चपकेटिया, दुसाध, रंगिया, रैदासी, सतनामी, मंगतिया, नोना चमार, ठेंगर तथा निखर, चन्दौर, इफाली, कालान, ढोर, डाबर, धड़गड़, डोम, कोरल, भिस्ती, रामदासी, चम्बार, बिलाई, मोची, रूटीक, पासी, चनाल, कनौतिया, रैगर, जटिया, मादिगा (तेलगू) मोची आदि वर्गो में बंटे हुए हैं। जो जूती बनाते-गांठते हैं। दूसरे वे जो जीन और साज बनाते हैं। दूसरे वर्ग के चमार स्वयं को ''श्रीवास्तव कायस्थ'' कहते हैं। उनके साथ विवाह करते हैं। उन्होंने साक्ष्यों से निष्कर्ष निकाले हैं- 'चमारों में हिन्दूवाद का कोई निश्चित धर्म-लक्षण नहीं मिला, फिर भी उन्हें हिन्दू माना जाता है। (पृ. 2) ब्रिग्स ने 'हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्टस' के लेखक के हवाले से बताया है, ''चमार का स्पर्श हो जाने पर एक सच्चे हिन्दू को स्नान करना और अपने सारे कपड़े बदलना अनिवार्य होता है।'

1911 की जनगणना में ब्राह्मण पहले स्थान पर, चमार दूसरे स्थान पर हैं। बंगाल में चमार-मोची छठे स्थान पर, ब्राह्मण दूसरे और कायस्थ तीसरे स्थान पर हैं। सहारनपुर जिले में हर पांचवा व्यक्ति चमार है, जबकि मेरठ मण्डल में चमारों की संख्या 17 प्रतिशत है। कुल मिला कर हर आठवां व्यक्ति चमार है। कड़वी सचाई यह है कि चमारों में दयनीय गरीबी है, वे सर्दी में ठिठुरते और गर्मी में झुलसते हैं। इनके पास आवश्यक आवास नहीं, पोषण नहीं, सूखे शरीर मानो धरती पर वे सबसे विपन्न प्राणी हैं। चमार कृषि कार्य, भवन निर्माण करने, रेलों की पटरियां बिछाने, सड़कें बनाने में दक्ष हैं। चमारों की गरीबी का एक बड़ा कारण 'बेगार-व्यवस्था' है। चमार दूसरों के इशारों पर जीते हैं और बिना पारिश्रमिक के बेहिसाब श्रम करते हैं। इनकी विषाद भरी जिन्दगियों से किसी को कुछ लेना देना नहीं। जबकि ''पंजाब के कुछ मोची स्वयं को राजपूत मूल का मानते हैं। 'कपूरथला' के 'भंगड़' जो जुलाहे हैं, मोचियों की शाखा हैं, किन्तु उनके साथ शादी-विवाह नहीं करते हैं।

वास्तविक अर्थ में चमार अपने देश की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक व्यवस्थाओं की उपज हैं। समाज व्यवस्था में उनके जैसी स्थिति के लोगों के लिए, दासोचित कार्य पूर्वनिर्धारित हैं और बेहतर जीवन जीने की उनके लिए कोई गुंजाईश नहीं है। अज्ञानता, भयंकर गरीबी, दासता और अधोगति ही उनके भाग्य में है। हालांकि, इन 'अछूत' वर्गो के लिए नई सुबह के कई संकेत भी हैं। इन की स्थिति को सुधारने पर बल देने वाले अभियान भी भारत के कई भागों में जोर पकड़ रहे हैं जो कि हिन्दुत्व की सामाजिक ताकत के बजाए ईसाइयत के प्रभाव से चल रहे हैं।

सामाजिक-धार्मिक शक्तियों के प्रभाव के प्रति चमारों का दृष्टिकोण खासा उल्लेखनीय है। वे परम्परागत हिन्दू रीति-रिवाजों को त्याग रहे हैं और जाति व्यवस्था का विरोध कर रहे हैं। दूसरे, आर्यसमाज के प्रयासों के कारण प्रतिक्रिया हो रही है। चूंकि, अस्पृश्यता की भयंकरता और शोषण की पराकाष्ठा से पीड़ित हो चमार इस्लाम और इसाईयत कबूल कर रहे थे। कुछ क्षेत्रों में इस संगठन ने सराहनीय प्रयास किए हैं। लेकिन अब तक वे कोई व्यापक नीति नहीं बना पाए हैं।

अभी आर्य समाज अधिकतर उन समुदायों तक ही सीमित है, जहां अन्य धार्मिक निकाय पहले ही कार्य शुरू कर चुके हैं और इन क्षेत्रों में प्रतिरोधवादी के रूप में काफी हद तक प्रवेश कर चुके हैं। तीसरे, इस्लाम का भी काफी प्रभाव दिखाई देता है। वर्ष 1911 में संयुक्त प्रांत में 5651 और पूरे भारत में 10,811 चमार मुसलमान बताए गए। जटिया उर्फ जटुआ (चमार) रोहिलखण्ड, पंजाब, दिल्ली और गुडगांव के पास रहते हैं। खेती-किसानी करते हैं और जूतों का व्यापार करते हैं। पंजाब में जटिया जानवरों की खाल को छूते तक नहीं। काफी चमार उच्च हिन्दुओं की भांति धनी और सुखी हैं। वे आराम का जीवन जीते हैं।

लेखक आगे लिखते हैं ''जटिया नाम जट से बना है, जिसका अर्थ ऊंट हांकने वाला होता है। यह नाम उन्हें जाट जाति से जोड़ता है। यह भी कहा जाता है कि वे चमारों के साथ जाटों के विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। ब्रिग्स की खोज में 'यदु' चमारों का ही एक कबीला था। उन्होंने नेसफील्ड के विचारों के हवाले से कहा है कि 'यदु कबीला चमारों की (जनजाति) से निकली शाखा है, जिसमें कृष्ण पैदा हुए थे। हालांकि, पंजाब के जटिया घोड़े और ऊंटों की खालों को कमाने का कार्य करते हैं जबकि 'चन्दर' लोग इस काम से घृणा करते है। चन्दर ऐसी उपजाति है जिनके यहां गौड़ ब्राह्मण भी नौकर रहते हैं।''

'द चमार' के बाद 1924 में पंडित सुन्दरलाल की पुस्तक 'जाटव जीवन' आई। यदुवंशी होने का दावा करते चमारों

से जाटव और यादव को पर्यायवाची माना। जो 'यादव जीवन 1929' शीर्षक से छपी रामनारायण यादवेन्दु की पुस्तक 'यदुवंश का इतिहास' में दावा किया गया कि यदुवंश जाटवों का वंश है। 'जा' से 'या' बना चमारों की यदुवंशी जड़ें खोजने वालों के समक्ष क्षत्रिय कहलाने के बाद समस्या आई, आजादी के बाद। जब राजा हैं तो सामाजिक शैक्षणिक पिछड़ापन कैसा है?

सन 1926 में वकील बाबू गोपी लाल और बाबू राम प्रसाद गोयल के बीच निर्वाचन नियम भंग करने को लेकर एक अभियोग चला था। पंडित सुन्दर लाल ने वोट देते समय यादव सरनेम लिखा। वकील गोपीलाल का पक्ष था कि पंडित जी जाटव हैं। अतः यादव लिखना अनुचित है। परन्तु कमिश्नर आर. एल. एच. क्लार्क ने निर्णय दिया कि सुन्दर लाल ने एक किताब 'जाटव जीवन' लिखी है, जिसमें स्पष्ट रूप से प्रस्तुत की गई विषय वस्तु के आधार पर वस्तुतः सभी जाटव, यादव हैं। 13 अक्टूबर, 1939 को संयुक्त प्रांत की सरकार के भारत मंत्री के निर्णय के पूर्व ही जाटव नाम सभी महकमों के लिए स्वीकार कर लिया गया।

स्वतंत्रता आंदोलन के वक्त बाबू जगजीवनराम, स्वामी अछूतानंद और माता प्रसाद आदि सामाजिक व राजनैतिक नेता आगे आए। साहित्य में चमार पात्रों का उल्लेख बढ़ गया। निराला ने 'चतुरी चमार उपन्यास लिखा, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने चमारों का कार्य-इतिहास लिखा। इधर चमार का हिन्दी अनुवाद जय प्रकाश कर्दम द्वारा किए जाने के बाद 'चमार आदिम जाति शीर्षक से डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर और चमार रेजीमेंट पर सुलतान सिंह तथा 'चमार' सतनाम सिंह आदि की रिसर्च सामने आयी है। इसी वर्ष 'केसरी' के संपादक बालगंगाधर तिलक की मृत्यु हुई। अम्बेडकर ने इस किताब का संज्ञान उसी तरह लिया, जिस तरह मिस कैथरिन मेयो की किताब 'मदर इंडिया' का लिया था। जबकि गांधी जी ने 'मदर इंड़िया' को एक सफाई इंस्पैक्टर की रिपोर्ट कह कर नकार दिया था और लाला लाजपतराय ने 'अनहैप्पी इंडिया' (दुखी भारत) नामक किताब लिख कर 'मेयो' की किताब का कथित रूप से जवाब दिया था।

श्यौराज सिंह 'बेचैन'

हिन्दी दलित कविता में अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव

डॉ. अजय कुमार

समाज में हो रहे परिवर्तन का अभिन्न अंग मनुष्य रहा है। प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन समाज के हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है। हिन्दी साहित्य में आदिकाल से चली आ रही धारा में भी कुछ परिवर्तन हुए और यह इतिहास गवाह है कि जिस काल में परिवर्तन की धार जितनी तीव्र रही है, वह युग उसी परिवर्तन रूपी लहर का हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि परिवर्तनकारी चक्र अविरल गति से क्रियाशील है। जाहिर है कि जब किसी एक धारा का महत्त्व अधिक होता है तो अन्य विषय कमतर चर्चा में आते हैं। हिन्दी दलित कविता में डॉ. अम्बेडकर का प्रभाव काफी व्यापक अर्थों में पड़ा है। डॉ॰ अम्बेडकर के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और जाति सम्बन्धी विचार स्पष्ट थे। वे हिन्दू धर्म में चार वर्णों वाली जाति-प्रथा को अच्छा नहीं समझते थे। उनके अनुसार समाज में सबको बराबरी का अधिकार होना चाहिए। इस समाज में कोई छोटा या बड़ा नहीं है। वे समाज में छुआछूत के घोर विरोधी थे। वे लिखते हैं–"हिन्दुओं की नीति और आचार पर जाति-प्रथा का प्रभाव अत्यधिक शोचनीय है। जाति-प्रथा ने जन-चेतना को नष्ट कर दिया है। गुणों का आधार भी जाति है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। गुणों की कोई सराहना नहीं है, जरूरतमन्द के लिए कोई मदद नहीं है। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं। अगर सहायता है तो केवल जाति मात्र ही तक समिति है। सहानुभूति है, लेकिन अन्य जातियों के लिए नहीं"[1] दलित साहित्यकार बाबा साहेब को अपना अगुवा और प्रेरक मानते है । कंवल भारती लिखते हैं–

जो मुक्ति संग्राम लड़ा था तुमने
वह जारी रहेगा उस समय तक
जब तक कि हमारे
मुरझाये फूलों के हिस्से
का सूरज
उग नहीं जाता।[2]

डॉ॰ अम्बेडकर 'सत्ता' को चाबियों की चाबी मानते थे। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि खेती के बाद रोजगार ही मनुष्य के जीने का साधन है। इसलिए डॉ॰ अम्बेडकर ने दलित-आदिवासियों के लिए भारतीय संविधान में आरक्षण का प्रावधान कर सामाजिक स्तर पर पिछड़े और उत्पीड़ित समाज को विशेष अवसर देकर समान स्तर पर लाने की एक ठोस सकारात्मक पहल की थी। पहले आरक्षण विजेता अपने लिए करते थे, परन्तु अम्बेडकर जी ने पहली बार संविधान में वंचितों, शोषितों और पिछड़ों को आरक्षण की व्यवस्था की। परन्तु समाज में इसे लेकर तमाम गतिरोध उत्पन्न हुए। प्रसिद्ध लेखक और दलित चिंतक जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं–

तुम्हारा आरक्षण उचित है
और मेरा आरक्षण अनुचित
अब हर क्षेत्र में होगी समान रूप से हिस्सेदारी
शासन-प्रशासन से लेकर
मैला ढोने, जूता गांठने
और झाड़ू लगाने तक के काम में भी
बाँटने होगी समानता।[3]

इतिहास समय का सबसे बड़ा सच होता है। दलित साहित्यकार हर चुनौती को स्वीकार करते हैं। सोहन पाल सुमनाक्षर लिखते हैं–

भले ही तुम हमारे आरक्षण की
बैसाखी तोड़ी
पर,पहले तुम
अपना आरक्षण
छोड़ो।[4]

6 मई, 1916 को डॉ. अम्बेडकर ने कोलंबिया यूनिवर्सिटी में डॉ. ए. ए. गोल्डन वाइजर की गोष्ठी में 'भारत में जाति- प्रथा' पर एक शोध पत्र पढ़ा था। वास्तव में, डॉ. अम्बेडकर जाति-प्रथा के उन्मूलनार्थ अन्तरधर्मीय व अन्तरजातीय विवाह का सुझाव देते थे। वर्ष 1920 में 'मूकनायक' पत्रिका के प्रवेशांक में वे लिखते हैं–''हिन्दू समाज एक बहुमंजिली इमारत की तरह है जिसमें प्रत्येक जाति इस मीनार का एक-एक तल (मंजिल) है। ध्यान देने की बात यह है कि इस मीनार में बाहर निकलने को सीढ़ियाँ नहीं हैं। एक तल से दूसरे तल में आने-जाने का कोई मार्ग नहीं है। जो जिस तल (जाति) में जन्म लेता है वह उसी तल में मरता है।''[5]

अम्बेडकर जी के इन विचारों से प्रेरित होकर हिन्दी दलित साहित्यकारों ने अपनी कविता में उनके विचारों की अभिव्यक्ति की है। डॉ. सोहनलाल सुमनाक्षर अपनी 'गोरख धन्धा' नामक कविता में लिखते हैं–

इन्सानियत की नहीं कोई कीमत
और न कोई कीमत है सदचरित्रता की
जात-पाँत के सांचे में ढलकर
यहाँ परख होती है मानव की
यहाँ आदर-निरादर भी बँटता है
जात-पाँत की तराजू से[6]

कुछ इसी प्रकार कवि लक्ष्मीनारायण सुधाकर ने भी लिखा है–

मैं चोटी का विद्वान।
किन्तु फिर भी मेरा अपमान यहाँ।
अनपढ़ अछूत को कौन भला,
फिर समझेगा इंसान यहाँ।।
दरिद्रता में जो पलते हैं, भारी कष्ट उठाते हैं।
सामाजिक अपमान विषमता, पैदा होते ही पाते हैं॥[7]

उपरोक्त उद्धरणों से यह साफ पता चलता है कि अम्बेडकर जी ने जाति-प्रथा को लेकर जो विचार व्यक्त किया था, उसका हिन्दी दलित कविता में व्यापक प्रभाव दिखाई पड़ता है। डॉ. अम्बेडकर नारी के सर्वांगीण विकास के पक्षधर थे। उन्होंने 'हिन्दूकोड बिल' के माध्यम से स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार और तलाक का अधिकार आदि दिया। उन्होंने नारी सम्बन्धी समस्त सुधारों को बढ़ावा दिया। नारी-शिक्षा पर उनका कहना था–''किसी भी समाज की प्रगति का सही अन्दाजा स्त्रियों में हुई प्रगति से ही लगाया जाता है। आप घरों से निकलकर यहाँ तक आईं निश्चय ही आप प्रगति के पथ पर हैं। आप अपने पतियों के सामाजिक कार्यों में सहयोग करें। पति की दासी नहीं, मित्र बनें, बच्चे कम पैदा करें और उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने पर ही उनकी राय के अनुकूल शादियाँ करें। बेटी-बेटा दोनों को उच्च शिक्षा दें, पति यदि शराब पीकर घर में घुसे तो उनके लिए घरों के दरवाजे बन्द कर दें। अधिक नहीं तो आप इन थोड़ी-सी ही बातों पर अमल करें तो निश्चय ही आपकी प्रगति होगी।''[8]

डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर से प्रेरणा लेकर ओम प्रकाश वाल्मीकि ने 'रामेसरी' और कर्मशील भारती ने 'मजूरिन' और श्यौराज सिंह बेचैन ने 'औरत की गुलामी' लिखी। श्यौराज सिंह बेचैन ने 'औरत' नाम की अपनी कविता में

नारी की कुछ इस प्रकार तस्वीर खींची है :

यह औरत
यह मजूरिनी औरत
यह औरत
यह भिखारिन औरत
राजधानी की
गंदी बस्ती में
बेच देती है
अपने जिस्म का
पाकीजापन
पेट की आग में
यानी कि
तंगदस्ती में।[9]

बेचैन जी ने उपरोक्त कविता में दलित नारी का दर्द बयाँ किया है। समाज में अन्य वर्गों की नारियों की अपेक्षा दलित वर्ग की नारी को ज्यादा कठिनाई से जीवनयापन करना पड़ता है।

बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर जी मनुष्य के आर्थिक पक्ष की उन्नति चाहते थे। वे समझते थे कि यदि मनुष्य आर्थिक रूप से सम्पन्न होगा तो उसके विकास की दिशायें अनंत होंगी। हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था या ग्रामीण संरचना को गौर से देखा जाये तो पायेंगे कि गाँव का व्यक्ति दिन भर मजदूरी करता है, फिर भी ठेकेदार और जमींदार उनकी दिहाड़ी हड़प कर जाते हैं। वे समझते हैं कि मजदूर को उतनी मजदूरी दो जिससे उसके घर का खर्च चल सके। उनकी यह कुबुद्धि सिर्फ इसलिए है कि दलित वर्ग अपना उत्थान न कर सके। कर्मशील भारती लिखते हैं :

निर्धनता की चक्की में पिस रहा समाज है।
महँगाई की रगड़न में पिस रहा समाज है,
मुट्ठी भर धनवानों में उलझी आर्थिक व्यवस्था
सदियों पहले सा शोषण विद्यमान आज है।[10]

इस प्रकार, डॉ. भीमराव अम्बेडकर से प्रेरणा लेकर हिन्दी दलित कविता में कवियों ने उस पीड़ा को व्यक्त किया है या यह कहें कि डॉ. अम्बेडकर के मिशन को आगे बढ़ाया है। हमारे संविधान में दलित और पिछड़ों को कितना अधिकार प्राप्त है। प्रश्न उठता है कि उसका अनुपालन सच्चे अर्थों में हो रहा है। वर्णवादी समाज में दलित की उपेक्षा आरंभ से की जा रही है। दलित वर्ग में शिक्षा का अभाव है। वह सम्पूर्ण रूप से आज भी शिक्षा के प्रति जागरूक नहीं है। जागरूक भी कैसे हो सकता है वह तो जन्म से ही गरीबी और निर्धनता में होता है। वह इस वर्णवादी समाज को जन्म से भोगने के लिए अभिशप्त है। वह चाहकर भी इससे छुटकारा नहीं पा पाता है। वह कुछ आर्थिक उन्नति की सोचता भी है तो वर्णवादी लोग उससे धर्म का बहाना देकर उस सड़ी-गली व्यवस्था में जीने के लिए विवश कर देते हैं।

20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में दलित रचनाकारों ने दलित जनता को जागरूक करने का बीड़ा उठाया है। समाज में हो रहे अत्याचार और शोषण के खिलाफ आज दलित कवि अपनी लेखनी चला रहा है। हिन्दी दलित कवि आज उस शोषणकारी नीति का पर्दाफाश कर रहा है।

सन्दर्भ

1. बाबा साहेब डा अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, सम्पादक, डॉ श्याम सिंह 'शशि', खण्ड-1, पृ. 778
2. कंवल भारती, हिन्दी का दलित काव्य : परम्परा और प्रगति, नीलकमल प्रकाशन गोरखपुर, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 158
3. डॉ॰ जय प्रकाश कर्दम, वही, पृ. 158
4. डॉ॰ सोहनपाल सुमनाक्षर, वही, पृ. 159
5. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 31.10.1982
6. डॉ॰ सोहन पाल सुमनाक्षर, सिन्धुघाटी बोल उठी, रा॰प्र॰ समिति दिल्ली, 1990, पृ. 38
7. लक्ष्मीनारायण सुधाकर, भीम सागर, हरित प्रकाशन मंडल, शाहदरा, दिल्ली, 1985
8. कौशल्या बैसंत्री, दलित महिला और अम्बेडकर, मासिक प्रतिपक्ष, अप्रैल, 1991
9. डॉ॰ श्यौराज सिंह बेचैन, नई फसल, मानसी प्रेस विलारी मुरादाबाद, (उ॰प्र॰), पृ॰ 50
10. कर्मशील भारती, दलित मंजरी, पंचशील लोकोपकारी संस्था, आर. के. पुरम्, नई दिल्ली, 1988, पृ. 93

डॉ. अजय कुमार
चक दादनपुर हनुमान नगर झलवा
(निकट-जीनियस पब्लिक इण्टर कालेज झलवा
प्रयागराज)
पोस्ट-सूबेदारगंज
जिला-प्रयागराज (उ.प्र.)
पिन कोड-211015
मो. 9455624397

दलित कविताओं में संवैधानिक मूल्यों की अनुगूंज

—अनुज कुमार

संवैधानिक मूल्य क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर संविधान की प्रस्तावना में मिल जाएगा। जहाँ धर्म, जाति, रंग और नस्ल, आदि के आधार पर होने वाले भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं है। भारतीय संविधान की आत्मा में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व जैसे मूल्य बसते हैं। डॉ. भीमराव अंबेडकर के लिए लोकतंत्र एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसमें स्वतंत्रता, समता और बंधुता सामाजिक जीवन के मूल सिद्धांत होते हैं।'' इन्हीं लोकतांत्रिक मूल्यों की अनुगूँज हमें हिन्दी दलित कविता में सुनाई देती है। कँवल भारती के अनुसार—''दलित कविता उस तरह की कविता नहीं है, जैसे आमतौर पर कोई प्रेम या विरह में पागल होकर गुनगुनाने लगता है। यह स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व-भाव की स्थापना और लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा करती है।'' इन मूल्यों को संविधान में मानवाधिकार के रूप में सुरक्षित किया गया है। भारतीय संविधान के मूलभूत अधिकारों में भारत के सभी लोगों के लिए समानता, स्वतंत्रता, प्राथमिक शिक्षा का अधिकार और शोषण के विरुद्ध अधिकार, आदि प्रदान किए गए हैं।

हिन्दी दलित साहित्य मानवाधिकारों का प्रबल समर्थक है। ''मानवाधिकार मनुष्य के वे मूलभूत सार्वभौमिक अधिकार हैं, जिनसे मनुष्य को नस्ल, जाति, राष्ट्रीयता, धर्म और लिंग आदि किसी भी आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता।'' इस दृष्टि से हिन्दी दलित कविता संवैधानिक मूल्यों की संवाहक बन पड़ी है। वह ऐसे समाज का निर्माण करना चाहती है जिसमें ऊँच-नीच और छुआछूत आदि के लिए कोई स्थान न हो। मानवीय सरोकारों को छिन्न-भिन्न करने का श्रेय वर्ण को है। वर्ण का विकृत रूप जातियों में परिणत हो गया है। जातियों में निहित ऊँच-नीच की भावना उसकी विकृति की चरम सीमा है। किंतु दलित कवियों ने जाति में छिपे मिथ्याभिमान का पर्दाफाश कर जाति विशेष से जुड़ी ऊँच-नीच की भावना, पवित्रता और शुद्धता जैसे बेतुके तर्कों का खंडन किया है। 'नीच नहीं अलग जाति हैं हम' में प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' कहते हैं—

वे शिक्षा, सभ्यता
और संघर्षरत दासता के प्रति
जैसे नीच प्रवृत्ति हैं।
वैसी निम्न जाति या

निम्न वर्ण नहीं हैं हम।
ऊँच-नीच कुछ नहीं–
अलग जाति हैं हम।

हिन्दी दलित कविता वर्णवादी विषमता को सरंक्षण देने वाले ग्रंथों, महापुरुषों एवं कहानियों का खंडन कर उसे नकारती है। इस संदर्भ में हम प्रो. कालीचरण 'स्नेही' की कविता 'सजा भर बाकी है' को देख सकते हैं–

अचंभा होता है
उस दौर की
बेसिर-पैर की तुक्कड़ कहानियाँ पढ़कर
जो गढ़ी जाती रहीं
एक साजिश के तहत
परमात्मा उवाच की शैली में
धर्म के नाम पर।
आज उसी कपोल-कल्पित
भ्रामक रचना संसार की
नींव हिलने लगी है
वर्णवादी विषमता के बहुमंजिले
भवन की।

वर्ण-जाति रूपी अमानवीय और मानव-विरोधी संस्कृति का खात्मा कर समानता के आधार पर कला-संस्कृति की निर्मिति हेतु हिन्दी दलित कविता निरंतर संघर्षरत है। भारतीय संविधान ने सैद्धांतिक रूप से इस क्रूर व्यवस्था के अंत की घोषणा कर दी है। भारतीय मानस के भीतर वर्ण व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी पैठ चुकी हैं कि उससे उबर पाना उसके लिए संभव नहीं जान पड़ता। जाति के आधार पर ऊँच-नीच का पैमाना तय करने वाली मानसिकता का उद्घाटन प्रो. कालीचरण 'स्नेही' ने अपनी कविता 'हम बेहद शर्मिंदा हैं' में कुछ इस प्रकार किया है–

जाति ही निर्धारित करती है यहाँ आदमी की औकात
कोई जन्म से ही हो जाता है पूजनीय-वंदनीय
कोई निंदनीय, अस्पृश्य और त्याज्य।

छुआछूत जो कि संविधान के अनुसार एक दंडनीय अपराध है उसने इस पर काफी हद तक अंकुश लगाया है, किंतु छुआछूत मात्र शारीरिक नहीं होती अपितु मानसिक भी होती है। छुआछूत अपनी शक्ल बदल रहा है। दलित समाज ने जो आजादी का सपना देखा था वह पूरा नहीं हो सका। उनके साथ अत्याचार और अन्याय की जो घटनाएँ थीं वो थम न सकीं बल्कि चेहरा बदलकर उन पर प्रहार करती रहीं। इस तथ्य को दलित साहित्यकार प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने कुछ इस प्रकार चित्रित किया है–

छुआ छूत की शक्लें बदलीं
मगर हिकारत बनी रही
ऊपर ऊपर मेल हो गया
भीतर भीतर ठनी रही।

हिन्दी दलित कविता का मुख्य उद्देश्य मानवतावाद की स्थापना करना है। ऐसा मानवतावाद जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व जैसे लोकतांत्रिक मूल्य हों। रजत रानी 'मीनू' के अनुसार–''डॉ. अंबेडकर ने मानव के लिए सभी स्तरों पर समानता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। दलित कवि विशेषतया इसी समानता आग्रह के साथ सृजनरत हैं।'' समतामूलक समाज का समर्थन करते हुए प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी कविता 'नीच नहीं अलग जाति हैं हम' में कहते हैं–

क्या गोरा क्या काला
क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र
क्या सछूत क्या अछूत
सब में समाया है कुदरत का रूप।
सबको चाहिए बराबरी का भाव।
सबको चाहिए
भेद-भाव के
पतझर का अंत।
करना है घृणा को दूर
विद्वेष और असमानता का अंत।

हिन्दी दलित कविता शोषण-उत्पीड़न से मानव समाज की मुक्ति हेतु संवैधानिक मूल्यों को जन-जन तक पहुँचाने का माध्यम है। समता की पैरवी करते हुए प्रो. कालीचरण 'स्नेही' उस साहित्य को वास्तविक साहित्य मानते हैं जो मानवता का पक्षधर हो, जिसमें समता का भाव सर्वोपरि हो–

मानवता का पक्ष ले, जूझ रहा जो नित्य ।
समता का साहित्य ही, है असली साहित्य।।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को मूल अधिकारों में सर्वोच्च अधिकार माना जाता है क्योंकि स्वतंत्रता ही जीवन है और बगैर स्वतंत्रता के जीवन की कल्पना करना कठिन है। बगैर स्वतंत्रता का जीवन पशु के समान है। भारत के संविधान का अनुच्छेद 19 व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार देता है। और व्यक्तिगत स्वतंत्रता व्यक्ति का मौलिक अधिकार होता है। किन्तु मानव-विरोधी वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था

ने उसके स्वतंत्र अस्तित्व को दबाकर उसका शोषण किया। वहीं पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री की चेतना पर संस्कारों और कर्तव्यों की ऐसी मखमली चादर चढ़ाई जिससे उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व कभी उभर नहीं पाया। त्याग की मूर्ति बतलाकर उसकी इच्छाओं को मार दिया गया। किन्तु अब वह चेतना सम्पन्न है, उसे अपने शोषण के कारणों का बोध हो गया है। वह 'मर्द की तरह जी सकेगी' नामक कविता में सुशीला टाकभौरे कहती हैं–

रहन-सहन, रीति-रिवाज
परम्पराओं की बात
सब उसे
बेबस बनाए रखने की चाल है
इसी से बेहाल है।'

अब उसमें खुलकर यह कहने का साहस आ गया है–

मुझे अनंत असीम दिगंत चाहिए
छत का खुला आसमान नहीं,
आसमान की खुली छत चाहिए!
मुझे अनंत आसमान चाहिए!!'

दलित जीवन की पीड़ा का मार्मिक चित्रण कर उनके प्रति संवेदना शून्य हृदय में संवेदना का संचार करने का प्रयास हिन्दी दलित कविता करती है। दलित उत्पीड़न भारतीय समाज की ऐसी सच्चाई है जिसे नकारा नहीं जा सकता। यह उक्ति कोई भावावेश में नहीं कही गई है। इसे तथ्यों द्वारा प्रमाणित भी किया जा सकता है। किंतु जातिवादी मानसिकता इस तथ्य से सदैव मुँह मोड़ती रही है और इस तथ्य के उद्घाटन कर्ता दलित कवियों को ही जातिवादी घोषित करने पर अपनी ऊर्जा लगाते रहे हैं।

भारतीय संविधान के कानून ने मूर्त भेद-भाव अर्थात् बाहरी रूप से होने वाले भेद-भाव को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है किंतु आंतरिक रूप से जातीयता की धारणा इतनी गहरी पैठी हुई है कि उससे भारतीय समाज अभी निजात नहीं पा पाया है। भीतर से आज भी उनके मन में जाति की सीढ़ीनुमा अवधारणा अपनी जड़ जमाए हुए है। डॉ. कालीचरन 'स्नेही' की 'आजादी कैसी है?' कविता इसका सशक्त उदाहरण है–

बदल गया है मात्र आवरण
नहीं आचरण बदला।
बदल गए वे दाव-पेंच
पर नहीं व्याकरण बदला।
बदली नहीं आत्मा उनकी
वह तो वैसी की वैसी है
चलो हमारे साथ गाँव में
दलितों की अब भी ऐसी है।
नहीं जानते अब भी बेचारे आजादी कैसी है?

हिन्दी दलित कविता में वर्ण और जाति आधारित व्यवस्था जनित अस्पृश्यता का विरोध मिलता है। दलित कवि इस घृणित व्यवस्था से उपजी द्वेष भावना को समाप्त कर एकता और पूर्ण सौहार्द की माँग करता है और जो इस व्यवस्था की मानवता विरोधी रूढ़ियों से चिपका रहना चाहता है, उसे वो बेचारा की संज्ञा देता है। प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी कविता 'इकतारा' में इसी भाव को प्रतिबिंबित करते हुए कहते हैं–

प्यार-प्यार सब कहते फिरते,
करता कोई प्यार नहीं।
गैर-धर्म का, गैर-कौम का
महापुरुष स्वीकार नहीं
भेदभाव रूढ़ि रस्मों से
प्रेम करे सो बेचारा।।
तुन तुन तुन तुन
तुन-तुन...बोल रहा है इकतारा।

संविधान को निर्मित हुए 75 साल हो गए हैं किंतु आज भी समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व जैसे मूल्य व्यावहारिक रूप धारण नहीं कर पाए हैं। भारतीय समाज को आज भी संविधान द्वारा संचालित होने की आदत नहीं पड़ी है। आज भी वह हजारों साल पहले स्थापित मान्यताओं को ही ढोता है। हिन्दी दलित कविता भारतीय संविधान के उन प्रावधानों को व्यवहार में परिणत करने का प्रयास करती है जो मानव के विकास एवं उसकी गरिमा से संबधित हैं। प्रकृति ने सभी मनुष्यों को जीने का अधिकार समान रूप से दिया है किंतु मानव द्वारा निर्मित समाज को चलाने हेतु जिन मान्यताओं का निर्माण किया गया उसने मनुष्य की स्वतंत्रता को छीन लिया।

संविधान मनुष्य की स्वतंत्रता की माँग करते हुए उसे मानवाधिकार रूप में परिभाषित करता है। लिखने, पढ़ने और बोलने की आजादी ने ही हाशिये पर कर दिए समाज में चेतना जाग्रत की है। प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी कविता 'अभिव्यक्ति' में कहते हैं–

अगर
लिखने-बोलने
की आजादी
सुनिश्चित
न कर दी जाती
संविधान में
तो मेरा दम
घोंट दिया होता।

संविधान आधुनिक भारत का कानून है जो समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का पाठ पढ़ाता है जिसकी अनुगूँज हमें हिन्दी दलित कविता में सुनाई देती है। इसमें ईश्वरीय मान्यताओं का खंडन कर अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु मानव द्वारा निर्मित वर्ण व्यवस्था से उपजी शोषण की नीति का विरोध है। कुसुम वियोगी के कविता संग्रह 'टुकड़े टुकड़े दंश' की 'पिंजरे' नामक कविता इसका अच्छा उदाहरण है–

मैं तुम्हारी
व्यवस्था के पिंजरे में
सदियों से कैद हूँ
उकता गया हूँ
चातुर्य वर्ण के कैद खाने में।

वर्ण-व्यवस्था की निर्मिति में कर्तव्यों का और उसके खंडन में अधिकारों का सहारा लिया जाता है। भारतीय संविधान कमजोर वर्ग की सामाजिक एवं शैक्षिक दोनों रूपों से विकास की आवश्यकता को पूर्ण मान्यता प्रदान करते हुए अस्पृश्यता के व्यवहार को अपराध के रूप में घोषित करता है। हिन्दी दलित कविता अर्थहीन संस्कारों को नकारती है। प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपने कविता-संग्रह 'भोर के अँधेरे में' की भूमिका में लिखते हैं–''दलित कविता का दायरा संविधान के अनुकूल है, जिसका अर्थ है कि दलित कवि संविधानवादी हैं।''

हिन्दी दलित कविता संविधान द्वारा प्रदत्त मानवाधिकार की बात को जोर-शोर से उठाती है। साथ ही दलित समाज की पीड़ा को सृजनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान कर चेतना जगाने का प्रयास करती है। वह उन मूल्यों को महत्त्व देती है जो सामाजिक विषमता को समाप्त करने की पैरवी करते हों। भारतीय संविधान जिन लोकतांत्रिक मूल्यों की बात करता है उन्हें भारतीय समाज कब अंगीकार करेगा यह सोचनीय है जिसके लिए हिन्दी दलित कविता प्रतिबद्ध है।

संदर्भ-ग्रंथ

- https://m-dailyhunt-in/news/india/hindi / webduniya$ hindi & epaper hinweb/bharat$
- me$lokatantr$uddeshy ev upalabdhiya & news id & 66284421
- भारती, कँवल, 'दलित कविता का संघर्ष', स्वराज प्रकाशन, पृ. 13
- काजल, अजमेर सिंह, दलित साहित्य में मानवाधिकार, 'समकालीन भारतीय साहित्य' (द्विमासिक मत्रिका), मई-जून 2011, पृ. 78
- 'बेचैन', प्रो. श्यौराज सिंह, 'चमार की चाय', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 131
- 'स्नेही', डॉ. कालीचरण, 'आरक्षण अपना अपना', नवभारत प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2007, पृ. 37
- काजल, अजमेर सिंह, दलित साहित्य में मानवाधिकार, 'समकालीन भारतीय साहित्य' (द्विमासिक मत्रिका), मई-जून 2011, पृ. 78
- स्नेही, डॉ. कालीचरण, 'आरक्षण अपना अपना', नवभारत प्रकाशन, प्र. संस्करण 2007, पृ. 41
- 'बेचैन' डा श्यौराज सिंह, 'चमार की चाय', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 43
- मीनू, डॉ. रजत रानी, 'नवें दशक की हिन्दी दलित कविता', दलित साहित्य प्रकाशन संस्था, प्र. सं., 1996, पृ. 95
- 'बेचैन', प्रो. श्यौराज सिंह, 'चमार की चाय', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 131
- 'स्नेही', डॉ. कालीचरण, 'जय भारत जय भीम', नवभारत प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2011, पृ. 33
- श्रीवास्तव, आशीष, व्यक्ति की गरिमा तथा मानवाधिकारों की सुरक्षा, 'पुलिस विज्ञान', अंक-136 (जनवरी-जून 2017), पृ. 6
- टाकभौरे, सुशीला, 'तुमने उसे कब पहचाना', स्वराज प्रकाशन, दूसरा संस्करण, 2013, पृ. 84
- वही, पृ. 86
- 'स्नेही', डॉ. कालीचरण, 'आरक्षण अपना अपना', नवभारत प्रकाशन, प्र. संस्करण, 2007, पृ. 83
- 'बेचैन', प्रो. श्यौराज सिंह, 'चमार की चाय', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 42
- 'बचैन', प्रो. श्यौराज सिंह, 'भोर के अँधेरे में', वाणी प्रकाशन, संस्करण, 2018, पृ. 75
- मीना, चैन सिंह, 'हिन्दी दलित कविता रचना-प्रक्रिया', भावना प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. 194
- 'बचैन', प्रो. श्यौराज सिंह, 'भोर के अँधेरे में', वाणी प्रकाशन, संस्करण, 2018, पृ. 27

अनुज कुमार
शोधार्थी (पी-एच. डी.) हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
मो : 7982232667

सलाम : दलित-चेतना की पैरवी करती कहानियाँ

—डॉ. तरुण

हिन्दी कहानी के शुरुआती लेखन और उसके पूरे विकास-क्रम को देख लीजिए वहाँ अधिकतर कहानियों में दलित पात्र की कथा गैर-दलित लेखक कहता मिलेगा। एक अर्थ में हम कह सकते हैं कि काफी लंबे समय तक कथासाहित्य में दलितों की अभिव्यक्ति का स्वर गैर-दलित लेखकों के हाथों में रहा। अब वह स्वर अच्छा है या बुरा अथवा इससे साहित्य का भला हुआ या बुरा– इस बहस में न पड़ते हुए हम सीधे उस बात पर अपना ध्यान केंद्रित रखना चाहेंगे जो इस स्वर को जोड़ते हुए भी इसे अलगा देता है। कारण कहीं-न-कहीं स्वानुभूति के साथ खड़ा हो जाता है। निश्चित ही दलित कहानियाँ यदि अपने सही परिप्रेक्ष्य में सामने आ सकीं तो इसमें दलित रचनाकारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है और कहना न होगा कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ इन रचनाकारों का नेतृत्व करती जान पड़ती हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ हमें उन मलिन और गंदी बस्तियों तक ले जाती हैं जहाँ शायद हम स्वेच्छा से जाना पसंद न करें। जहाँ से हम स्वयं बचकर निकल जाना चाहते हैं। दलित साहित्य इन्हीं अर्थों में साहित्य से गहरे रूप में संबद्ध होने के बावजूद, अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। दलित साहित्य स्वानुभूति का साहित्य है। सहानुभूतिवश लेखन की न तो वह माँग करता है और न ही इसकी उसे जरूरत है। साठ के दशक में नयी कहानी को लेकर 'भोगे हुए यथार्थ'[1] पर जो बहस चली थी वह आधिकारिक रूप से दलित साहित्य का भी मुख्य आधार है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की तमाम कहानियाँ उस यथार्थ को थोड़ा और विस्तार देती हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की भूमिका सिर्फ यथार्थ प्रस्तुति की ही नहीं बल्कि यह भी है कि वे उस दौर में अपनी रचनाओं में अपने पूरे सच को बयाँ कर रहे थे जिसे साहित्य संसार ही नहीं बल्कि प्रकाशन संसार भी बहुत सकारात्मक दृष्टिकोण से नहीं देख रहा था। ओमप्रकाश वाल्मीकि ऐसे समय में साहित्य में दलित साहित्य की दस्तक देते हैं[2] जब दलित लेखन बहुत हाशिये की भेंट चढ़ा हुआ था। वाल्मीकि जी इस हाशिये को केंद्र तक लाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं।[3] दलित साहित्य को जिस राजनीति के तहत हाशिये पर डाला गया था ये देखना दिलचस्प है कि राजनीति ही उसे आज केंद्र में रखने के लिए दलित लेखन को उसका हक दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य के लिए किसी रियायत की न तो उम्मीद करते हैं और न ही हिन्दी साहित्य के भीतर किसी काल या विभाग की

चाहत ही दिखाते हैं बल्कि वे साहित्य से संबद्ध होते हुए भी दलित साहित्य के द्वारा एक अलग साहित्य की जायज माँग रखते हैं। लेखन से पहले सामाजिक और मानसिक स्तर पर उन्होंने जो यंत्रणाएँ झेलीं इसका तफ्सील से विवरण उनकी आत्मकथा जूठन में मिलता है। जूठन की भूमिका में वे लिखते हैं, "इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। एक लम्बी जद्दोजहद के बाद मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। अपनी उपेक्षाओं और प्रताड़ना को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएँ मैंने भोगीं। स्वयं को परत दर परत उधेड़ते हुए लगा कि कितना दुखदाई है ये सब।"[4]

ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहानी-संग्रह 'सलाम' साहित्य में दलित साहित्य की ही दस्तक नहीं देता अपितु जीवन में दलित-चेतना की दस्तक भी दे देता है। इस संदर्भ में 'सलाम' कथा-संग्रह की कहानियाँ हमारे समय में सामाजिक विसंगति और विद्रूपता की ही कहानियाँ नहीं हैं बल्कि सामाजिक असमानता और जातिगत भेदभाव को दिखाती वे कहानियाँ हैं जहाँ दलित पात्र अपने साथ गैर-दलित पात्रों को जोड़ते हुए उस वैषम्यता का संकेत कर देते हैं जिसके वे बरसों से भोक्ता रहे हैं। यह बात वाल्मीकि जी की कहानियों में अलग से इंगित की जानी चाहिए कि वे कहानियाँ बेशक दलित और उन पर किये गये अत्याचारों पर कह रहे हों, लेकिन उन्हीं कहानियों में आपको ऐसे पात्र दिख जाएँगे जो दलितों के साथ खड़े होने मात्र से ही भेदभाव और कथित अत्याचार एवं शोषण को झेलते हैं। यहाँ संभवत लेखक यह समझाना चाहता है कि हमारे साथ जुड़ने मात्र से अगर किसी गैर-दलित को इतना सब भुगतना पड़ रहा है तो एक दलित के बारे में सोचिये जिसे जीवनभर इस तरह की गालियों, शोषण और अत्याचार का मुकाबला करना पड़ता है। इसलिए अपनी कहानियों में वे सायास गैर-दलितों को समाज में दलितों से किए जा रहे उत्पीड़न का भोक्ता बनाते हैं।

वे लिखते भी हैं कि इस पीड़ा के दंश को वही जानता है जिसे झेलना पड़ा।[5] दलित अगर भोक्ता है तो दलित साहित्य उसके उसी भोगे हुए यथार्थ से उपजा साहित्य है। वे स्वयं को दलित और गैर-दलित की बहस से बचाते हुए अपने कथालोक में दलितों और उनके जीवन पर हुए अत्याचारों का ब्योरा मात्र ही नहीं देते बल्कि अपनी कहानियों के माध्यम से हमारे सामने सवर्णों द्वारा किए गए शोषण की दास्तान खोल कर रख देते हैं। जाति का वीभत्स इतिहास शोषण की इस दास्तान को खोल सकता है। "जाति का यह वीभत्स यथार्थ न केवल मानवीय बराबरी का विरोध करता है बल्कि मानवीय बराबरी की संभावनाओं का भी उपहास उड़ाता है। उसका उपहास बहुत मौलिक किस्म का नहीं है बल्कि परंपरा रिवाज पर टिकी समझ पर ही दयनीय ढंग से निर्भर है। वाल्मीकि ने इस विषमता से कथाएँ रची हैं।"

'सलाम' कहानी उस दकियानूसी परंपरा को हमारे सामने रखती है जिसने दलितों के दंश को और अधिक बढ़ाया। इस रूढ़िवादी परंपरा के तहत दलित वर-वधु को विवाह के बाद गैर-दलितों के यहाँ जाकर सलाम करना होता है जिसके एवज में वो इन्हें कपड़े-लत्ते-बर्तन आदि देते हैं। इस कहानी का संदर्भ वाल्मीकि जी की आत्मकथा में भी आता है।[7] वहीं इस रीत को तोड़ने का बीड़ा उठाने की बात भी वाल्मीकि जी करते हैं। 'सलाम' संग्रह की कहानी उनके कथन का कथा विस्तार ही तो है "अपनी ही शादी में दूल्हा घर-घर घूमे बुरी बात है...बड़ी जात वालों के दूल्हे तो ऐसे कहीं नहीं जाते...ये दुल्हन बरला जाकर ऐसे ही घर-घर जाएगी सलाम करने...पिताजी खामोशी से मेरी बात सुन रहे थे, "मुंशी जी बस तुझे स्कूल भेजना सफल हो गिया है म्हारी समझ में बी आ गिया है... ईब इस रीत कू तोड़ेंगे।"

यह कहानी दलित (हरीश) और गैर-दलित (कमल उपाध्याय) पात्रों के माध्यम से हमारे सामने एक ऐसे सच को बयाँ कर देती है जो शहरों में शायद छिप जाए लेकिन गाँवों में वह जस का तस व्याप्त है जो हमारी धमनियों में रक्त की तरह बहता है। "जुम्मन तेरा जवाई इब तक सलाम पर क्यों नहीं आया। तेरी बेटी का ब्याह है तो हमारा बी कुछ हक बनता है। जो नेग-दस्तूर होता है, वो तो निभाना ही पड़ेगा। हमारी बहू-बेटियाँ घर में बैठी इंतजार कर रही हैं। उसे ले के जल्दी आ जा....जुम्मन ने सिर पर लिपटा कपड़ा उतार कर बल्लू रांघड़ के पाँव में धर दिया, चौधरी जी, जो सजा दोगे भुगत लूँगा। बेटी कू बिदा हो जाण दो। जमाई पढ़ा लिखा लड़का है, गाँव देहात की रीत ना जाणे है।"[8]

लेकिन 'सलाम' का मसला सिर्फ ये नहीं है कि वह इस परंपरा के बारे में फैली धारणा को हमारे सामने रखे यह कहानी का न तो मूल मंतव्य है और न ही उद्देश्य। इसकी संवेदना का धरातल वह बिंदु भी है जहाँ कमल उपाध्याय चाय पीने जाता है और उसे चाय इसलिए नहीं दी जाती क्योंकि वह दलितों (चूहड़ों) की बारात में आया है। एक अन्य अर्थ में ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ब्राह्मण पात्र का सामना उस पीड़ा और उत्पीड़न से कराते हैं जिसे दलित बरसों से झेलते आए हैं। उसकी एक झलक मात्र से कमल

उपाध्याय दुखी हो जाता है, तब दलित तो ऐसा उत्पीड़न झेलने के लिए मानो अभिशप्त हों। कहानी में एक और बिंदु है जहाँ बारात में हरीश के ताऊ कमल से पूछते हैं, "कौन बिरादर हो? बुजुर्ग ने बात आगे बढ़ाई। ताऊ क्या इतना काफी नहीं है कि यह मेरा दोस्त है, और मेरी बारात में शामिल है? हरीश ने नाराजगी व्यक्त की। बुजुर्ग किसी जमाने में अंग्रेज अफसर की सेवा टहल में थे, जब भी मौका मिलता, दिखाने की कोशिश करते। मैन्ने कोई इंसलेट बात कही है क्या?... जो बुरा मान गए। बुजुर्ग चुप हो गया। ताऊ जी...आपकी बात का बुरा क्या मानना...मैं ब्राह्मण हूँ...और कुछ पूछना हो तो पूछिए...कमल ने विनम्रता दिखाई। बुजुर्ग ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया।"

यह वह संदर्भ है जहाँ कमल (गैर-दलित) एक दलित परिवेश में उस जातिगत माहौल का अनुभव करता है जिसका कि हरीश बचपन से भोक्ता रहा है। एक और संदर्भ है जब हरीश को कमल अपने घर लेकर आता है और कमल की माँ खाना खिलाते वक्त हरीश से पूछती है, "हरीश ने पहला कौर उठाकर मुँह में रखा ही था कि कमल की माँ ने पूछा, 'बेटे, तुम्हारे पापा क्या करते हैं?' 'जी, नगरपालिका में सफाई कर्मचारी हैं।' हरीश ने सहजता से उत्तर दिया। हरीश का जवाब सुनते ही कमल की माँ आगबबूला हो गयी थी। कमल के गाल पर एक झन्नाटेदार थप्पड़ पड़ा था। पता नहीं कहाँ-कहाँ से इन कंजड़ों को पकड़कर ले आता है। खबरदार जो आगे से किसी हरामी को दुबारा यहाँ लाया..."

हमें इस पर थोड़ा ठहर कर सोचने की जरूरत है कि कहानी 'सलाम' शीर्षक की सार्थकता को तो वहीं उठा सकती थी जहाँ गाँव में 'सलाम' की रूढ़िवादी प्रवृत्ति का पटाक्षेप किया गया। फिर ओमप्रकाश वाल्मीकि कमल उपाध्याय के चरित्र को हरीश के साथ क्यों रखते हैं? हमारे लिए ये काफी महत्त्वपूर्ण होना चाहिए। कहानी किसी भी प्रसंग अथवा पात्र की बेवजह रचना नहीं करती, ऐसा हमारा मानना है। 'सलाम' कहानी को लेकर हमारी चिंता इस विश्लेषण के द्वारा ही हल हो सकती है और इस चिंता को दूर करने में उपरोक्त संदर्भ हमारे लिए सहारे का काम करते हैं।

'सपना' कहानी में एक अफसर खाली पड़ी जमीन पर एक मंदिर बनाने का सपना देखता है। पहले ये बहस चलती है कि मंदिर किस भगवान का बने। उस वक्त पाठक को यह धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कहानी लग सकती है, लेकिन कहानी अपनी मूल्यवत्ता वहाँ प्राप्त करती है जहाँ मंदिर बन जाने के बाद नटराजन, गौतम (दलित पात्र) को आगे नहीं बैठने देता और उसे जूते-चप्पलों की रखवाली करने के लिए कहता है। गौतम ने इस मंदिर को बनाने में अपना खून-पसीना लगाया था लेकिन मंदिर बन जाने के बाद वह उसी धोखे का शिकार होता है जो गैर-दलितों ने दलितों के साथ किया। यहाँ फिर ओमप्रकाश वाल्मीकि 'सलाम' कहानी की भाँति एक ब्राह्मण पात्र (ऋषि) को गौतम के साथ खड़ा करके दलितों की लड़ाई लड़ते हैं। नटराजन गौतम को बाहर निकालने के लिए ऋषि को बरगलाने की कोशिश करते हुए कहता है, "ये गौतम एस. सी. है। नटराजन ने आखिर चाल चल दी तो इससे क्या फर्क पड़ता है...श्री नटराजन जी...ऋषि के व्यंग्य से कहाँ फर्क पड़ता है। पूजा-अनुष्ठानों में उन्हें आगे नहीं बैठाया जा सकता। यह रीत है, शास्त्रों की मान्यता है। नटराजन ने गहरे अवसाद में भरकर कहा" (सपना)

इसके बाद ऋषि जो तर्क रखता है वह सुनने लायक है, "तो यह बात है मिस्टर नटराजन। यह ज्ञान आप को आज ही प्राप्त हुआ है कि गौतम एस. सी. है। जब वह दिन-रात अपना खून-पसीना बहा रहा था इस मंदिर को खड़ा करने में, तब आप नहीं जानते थे कि वह एस. सी. है। तब, आपने क्यों नहीं कहा कि जो एस. सी है वह मंदिर के काम में हाथ न बँटाए, इसके चूने-गारे में अपने जिस्म का पसीना न मिलाए, क्यों नहीं आपने ऐलान किया कि जो ईंट किसी एस. सी. ने बनाई है या पकाई है, ट्रक में चढाई या उतारी है, वे ईंटें इस मंदिर में नहीं लगेंगी। उस वक्त भी तो सोचना चाहिए था...ऋषि ने पूरी शक्ति से विरोध किया।"

इसके बाद जब गौतम स्वयं इस नोक-झोंक से बचने के लिए अथवा लड़ाई खत्म करने के लिए कहता है, "चलो भाई हम लोग घर चलते हैं। ऐसे अनुष्ठानों में बैठकर क्या होगा? जहाँ आदमी को आदमी की तरह न समझा जाए। गौतम ने उसे शांत करने की कोशिश की।" यहाँ भी ऋषि के विचार सुनने लायक हैं और यहाँ यह भी नोटिस करने की बात है कि वाल्मीकि जी गौतम का साथ देने के लिए एक ब्राह्मण चरित्र को चुनते हैं यानि एक गैर दलित। ऋषि गौतम से कहता है, "नहीं गौतम, यह तेरी या मेरी लड़ाई नहीं है...आज यह जगह छोड़कर तुम चले भी गये तो फिर इस लड़ाई को जारी रखना मुश्किल होगा।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सपना' इस संदर्भ में काफी महत्त्वपूर्ण कहानी है। यह एक ओर जहाँ उस भेदभाव और शोषण की राजनीति और गैर-दलितों की दलितों के साथ की गई डिप्लोमैसी को सिलसिलेवार ढंग से खोलती है, वहीं ब्राह्मणवादी सोच का मुकाबला करने के

लिए ब्राह्मण के भीतर छिपी चेतना का सहारा लेने से नहीं हिचकती।

काले और भूरे के माध्यम से ओमप्रकाश वाल्मीकि उस मानवीय संवेदना को दलित-चेतना से जोड़ देते हैं जिसके द्वारा गैर-दलितों ने मौका परस्ती और खुदगर्जी का नाम देकर दलितों पर अनेक लांछन लगाए और उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ दीं। गौहत्या कहानी संदर्भ के रूप में ली जा सकती है। गाय की हत्या का पाप सुक्का पर डाल कर चौधरी अपनी पुरानी खुन्नस का बदला लेता है, क्योंकि उसने अपनी पत्नी को चौधरी की हवेली पर भेजने से मना कर दिया था। "सुक्का अपनी जगह बैठा मुखिया की साजिश पर सोचना चाहता था। किंतु बदहवासी की हालत में सोच सही दिशा ग्रहण करने से पहले ही टूटकर बिखर रही थी। उसे अपनी दुल्हन का ख्याल आया जिसने उसकी रगों में विश्वास जमाया था। किंतु इस क्षण वह विश्वास भी डगमगा गया था। उसने उठने की कोशिश की। उठा नहीं गया तभी मुखिया के लठैत ने आकर उसे लाठी के एक सिरे से धकेला।"(गौहत्या)

चौधरी और पंडित रामसरन इन यातनाओं को देने के लिए कैसे-कैसे तर्क गढ़ते हैं और अमानवीयता की हद पार करते हैं इसका बयान 'गौहत्या' में हमें मिलता है। "गौहत्या का मामला है और आँखों देखा कोई गवाह भी नहीं है। इसलिए ऐसी सजा दी जाएगी जिससे सुक्का बच भी सकता है। हल में काम आने वाली फाल को आग में तपाया जाएगा जिसे दोनों हाथों में थामकर सुक्का गौमाता गौमाता...कहता हुआ, दस कदम चलेगा। यदि सुक्का ने गौहत्या नहीं की है तो गर्म लोहे की फाल उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी। ठीक वैसे ही जैसे अग्निपरीक्षा में सीता माता का कुछ नहीं बिगड़ा था। क्योंकि सीता माता पवित्र थीं, ईमानदार थीं। यदि सुक्का निर्दोष है तो आग में तपा लोहा भी सुक्का को नहीं जला सकता। यह पंचों का फैसला है।"(गौहत्या)

इस तरह के फलसफों को किसी की जान लेने का हथियार बनाए जाने को देखकर मन आक्रोश से भर जाता है और चौधरी तथा पंडित रामसरन मानवीयता की हद पार करते जिनावर (ओमप्रकाश वाल्मीकि की एक कहानी का शीर्षक) लगने लगते हैं। गौरतलब है कि एक ओर जहाँ अमानवीयता की हद को 'गौहत्या' कहानी खोलती है, वहीं 'बैल की खाल' के दलित पात्र काले और भूरे अपनी रोजी रोटी (बैल की खाल) की फिक्र किये बिना बछड़ी के दुर्घटनाग्रस्त होने पर अपनी संवेदना को नहीं रोक पाते और बैल की खाल को वहीं छोड़ डॉक्टर को बुलाने दौड़ पड़ते हैं। यह जानते हुए भी कि बैल की खाल ही उनकी रोजी-रोटी का एकमात्र साधन है। काले और भूरे में व्याप्त जानवर के लिए भी ऐसी मानवीयता देख मन गद्‌गद हो उठता है। "क्या हुआ? काले ने आते ही कहा देख लो... यह तो हिल भी नहीं रही है। भूरे ने सहमते हुए कहा बछड़ी का बदन ऐंठकर शांत हो गया था। कहीं कोई हलचल नहीं थी। वे दोनों चुपचाप एक-दूसरे की ओर देखते रहे। उनके बीच खामोशी छा गई थी। चुप्पी तोड़ी काले ने। वह उठकर खड़ा हो गया। भूरे, तू यहीं ठहर, मैं गाँव में खबर करके आता हूँ। उसकी आवाज में हताशा थी। अचानक बछड़ी का इस तरह मर जाना उन्हें दुखी कर गया।" (बैल की खाल)

इस तरह से देखें तो 'बैल की खाल' कहानी गौहत्या का पूर्वक्रम है। एक तरह से पिछला भाग। बिलकुल 'ग्रहण' और 'बिरम की बहू' की तरह। ग्रहण : दलितों के लिए खुशी का सबब और रमेसर की चिंता 'ग्रहण' और 'बिरम की बहू'। 'ग्रहण' और 'बिरम की बहू' दरअसल दो कहानियाँ न होकर पहले और दूसरे भाग के रूप में लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि को लिखनी चाहिए थीं। संभवतः अपने मूल पाठ में ये एक ही कहानी के दो भाग हों लेकिन उनके कहानी-संग्रह 'सलाम' में ये दोनों कहानियाँ अलग-अलग शीर्षक से छपी हैं। गौरतलब है कि इनका प्लॉट और पात्र एक ही है। 'ग्रहण' कहानी 'बिरम की बहू' की पूर्वावस्था है। "और जब ये शोर थमा, बहू अस्त-व्यस्त कपड़ों में कच्चे फर्श पर पड़ी थी। रमेसर ने अपने फटे-पुराने कपड़े सँभाले और बहू की ओर देखा। बिरम की बहू फर्श पर लेटी तृप्त व कृतज्ञ भाव से उसे निहार रही थी। उसने लेटे-लेटे ही कहा, दरवाजे के पास गेहूँ का एक कट्टा रखा है, ले जाओ..." (ग्रहण)

'ग्रहण' कहानी की शुरुआत चंद्रग्रहण से होती है लेकिन ये ग्रहण सिर्फ चाँद पर नहीं था 'बिरम की बहू' पर भी था। वो बला की खूबसूरत थी लेकिन उसकी गोद सूनी थी। बाँझपन का यह ग्रहण दूर करने के लिए वह रमेसर का सहारा लेती है। बदले में एक कट्टा गेहूँ रमेसर को मिलता है। इसके बाद की कहानी 'बिरम की बहू' में मिलती है जिसका अंत एक तरह के मोहभंग में होता है। "काफी देर बाद स्त्रियाँ शिवालय से बाहर आईं। बहू जी उसी तरह उनसे घिरी हुई बाहर निकली और बिना देखे उसके सामने से धीमे-धीमे आगे निकल गई। बहू जी के चेहरे पर कहीं कोई परिचय की लकीर नहीं थी। रमेसर ठगा सा खड़ा रह गया। उसे लगा जैसे आसमान धीरे-धीरे नीचे आ रहा है।" (बिरम की बहू)

रमेसर को लगता है बहूजी ने उसका इस्तेमाल किया और अपना काम बनाने के लिए उसकी भावनाओं से

खेला। काफी हद तक ये कहानियाँ दलितों के त्याग और मेहनत को दिखाते हुए सवर्णों की कृतघ्नता और शोषक नजरिये को हमारे सामने रख देती हैं। जो ग्रहण शुरुआत में बिरम की बहू पर लगा होता है और सवर्ण पात्र उससे त्रस्त नजर आते हैं, जबकि दलितों के लिए वह खुशी का सबब बनता है, वही ग्रहण हट जाने के बाद रमेसर को गमगीन बना देता है।

'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' हमारे विचार में इस संग्रह की सबसे सशक्त कहानी है। यह विश्वास में छले जाने की गहन पीड़ा की कहानी है जिसकी तोड़ के रूप में कहानी का पात्र सुदीप अपने पिता को यह एक बात समझाने के लिए कि पच्चीस चौका डेढ़ सौ नहीं बल्कि सौ होते हैं, समय का एक लंबा फासला तय करता है। उसके पिता जो चौधरी पर अंधश्रद्धा रखते हैं और उसे भगवान की तरह मानते हैं क्योंकि उसने उनके आड़े वक्त में मदद की थी। लेकिन चौधरी पर जितना विश्वास पिता करते हैं वह तोड़ने के लिए सुदीप अपनी स्मृतियों से यह बात नहीं जाने देता और सौ रुपये कमाने के पश्चात् पिता को व्यावहारिक (प्रैक्टिकली) यह बात समझाने की कोशिश करता है। पिता बात समझ जाते हैं और अपने आप से छले जाने और विश्वास के टूटने की पीड़ा से आक्रोशित हो उठते हैं। यहाँ कहानी का वह क्षण बड़ा महत्त्वपूर्ण है जब पिता रुपयों को बार-बार गिनते हैं और चौधरी के संबंध में अपनी बनी बनाई सोच पर आत्मग्लानि और आक्रोश से भर उठते हैं। यह कहानी दलितों के संवेदनात्मक उत्पीड़न की कहानी है।

'कहाँ जाए सतीश?' एक ऐसे लड़के की कहानी है जिसने जन्म तो दलित परिवार में लिया है लेकिन वह अपनी पढ़ाई-लिखाई से अपनी तकदीर बनाना चाहता है। वह हाथ में झाड़ू पकड़ने की अपेक्षा कलम और किताब पकड़ता है। स्कूल के मास्टर रवि शर्मा उसका साथ देते हैं लेकिन वह जातिगत मार से स्वयं को नहीं बचा पाता। यहाँ सतीश दो स्तरों पर निर्वासित होता है। एक, वह घर नहीं जा सकता क्योंकि माता-पिता पढ़ाई को दोयम दर्जे का काम मानते हैं और चाहते हैं कि सतीश नगरपालिका की नौकरी करे। दो, वह बाहर से भी निर्वासित है क्योंकि जैसे ही पंत परिवार को पता चलता है कि वह दलित है वह निर्वासित कर दिया जाता है। इन संदर्भों में 'कहाँ जाए सतीश?' दोहरे निर्वासन और दोहरी मार की कहानी है।[9]

'भय' और 'अंधड़' कहानियों की अंतर्वस्तु एक ही है। दोनों कहानियों के पात्र अपनी अस्मिता से बचना चाहते हैं लेकिन ऐसा वे स्वेच्छा से नहीं करते बल्कि सामाजिक भय और दुत्कार के कारण करते हैं। उन्हें लगता है कि अगर वे अपनी जाति छिपाएँगे तो सामाजिक प्रतिष्ठा उन्हें मिलेगी। एक हद तक वे अपनी सोच में सही भी थे पर एक अंतर्मन भी होता है जो आपको प्रश्नाकुल किये रहता है। आप सबसे भाग सकते हैं, अपने आप से नहीं। ये कहानियाँ अपने चरित्रों के माध्यम से इस कथ्य को हमारे सामने रखती हैं। इन दोनों कहानियों की संवेदना का धरातल एक ही है, इसलिए इनका भावबोध भी एक दूसरे से जुदा नहीं।

इस संग्रह की अन्य कहानियाँ हैं जिनावर, अम्मा, खानाबदोश और कुचक्र। ये कहानियाँ आरक्षण विरोधी नारों के मध्य दलित जीवन को बचाने की अपेक्षा स्वयं को सक्षम करने की कहानियाँ हैं जिसमें दलित पात्र अपनी जिम्मेदारी को निभाते हुए निर्णय लेते दिखाये गये हैं। लेकिन हर जगह ये निर्णय सफल नहीं होते, कहीं 'अम्मा' की निराशा में बदलते हैं तो कहीं आर. बी. (कुचक्र) को बिना वजह जेल और अपमान का घूँट पीने के लिए बाध्य करते हैं।

सन्दर्भ

1. (सं.) अवस्थी, देवीशंकर, 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1973
2. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', राधाकृष्ण प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति 2008
3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2008
4. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, 'जूठन', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997 (भूमिका से)
5. वही
6. दलित व्यथा की कथा, वैभव सिंह, संवेद, जुलाई, 2017 संपादक, कालजयी किशन, नयी किताब प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 54
7. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, 'जूठन', राधाकृष्ण प्रकाशन, पैपरबैक चौथी आवृत्ति 2009, पृष्ठ 44
8. कहानियों के सभी उद्धरण ओमप्रकाश वाल्मीकि रचित 'सलाम' कहानी-संग्रह से वाल्मीकि, ओमप्रकाश, 'सलाम', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
9. http://kafila.org/2013/11/18/श्रद्धांजलि - ओमप्रकाश-वा/

डॉ. तरुण
सहायक प्रोफेसर,
शिवाजी कॉलेज (दि.वि)
मोबाइल : 8700318608

डॉ. रजत रानी मीनू की कहानियों में दलित-विमर्श

–डॉ. मोहम्मद इसराइल

डॉ. रजत रानी मीनू ने बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में दलित समाज के व्यक्तियों विशेषकर स्त्रियों की पीड़ा को उठाया है। वह अपनी कलम के माध्यम से समतामूलक समाज की व्यवस्था बनाने की वकालत करती हैं। वह मानवीय मूल्य और मनुष्य को मनुष्य का दर्जा मिले इस बात को सदैव उठाती हैं। मीनू जी की अगर सभी कहानियों का मूल्यांकन करें तो एक यथार्थ साहित्य पढ़ने को मिलता है।

हम कौन हैं? इस कहानी में लेखिका ने एक मध्यमवर्गी दलित परिवार की पीड़ा को दर्शाया है। युग बदल गया है और बदल रहा है। नहीं बदली है तो वह है हमारी जाति आधारित व्यवस्था और संकीर्ण मानसिकता। भूमंडलीकरण के दौर में जहाँ शहरीकरण तो बढ़ा लेकिन इस शहरीकरण में व्यक्ति के संस्कार में पुरानी छाप दिखाई देती है। एक अज्जू उर्फ अजातिका नाम की बच्ची विद्यालय में पढ़ने जाती है, उससे अध्यापिका प्रश्न करती है तुम्हारा सरनेम क्या है? बच्ची ने उत्तर दिया अजातिका अज्जू क्योंकि बच्ची को पता ही नहीं सरनेम क्या होता है? घर आकर उसने अपनी माँ उमा से पूछा कि सरनेम क्या होता है क्योंकि उसकी हर सहेलियों का सरनेम था। उमा अज्जू की बातें सुनकर सोचने लगी पब्लिक स्कूलों में भी सरनेम पूछा जाता है? यानि, सरनेम पूछने का मॉडर्न तरीका। उमा ने अज्जू को यह कहकर शांत तो कर दिया वह खुद मैडम से पेरेन्ट्स टीचर मीटिंग में बात कर लेगी पर वह खुद परेशानी में पड़ गई। शहरों में तो जाति खत्म हो गई थी पर स्कूलों में इन अबोध बच्चों से सरनेम क्यों पूछा जा रहा है? समय बीतता गया। चार साल बाद फिर वही हुआ। एक बार फिर से सरनेम पूछा गया और इस बार भी बच्ची का वही उत्तर था 'अजातिका अज्जू' और इसके बाद वह कक्षा में मजाक का पात्र बन गई। बाल मनोविज्ञान के विकास के समय ही उसके मस्तिष्क में ऊँच-नीच, जाति-भेदभाव के प्रश्न छपने लगे परन्तु माँ ने उसके प्रश्नों के उत्तर नहीं दिए। माँ बस यही सोच रही थी ये प्रश्न उसके मस्तिष्क में डालता कौन है? क्या यह अंग्रेजी स्कूलों की पश्चिमी संस्कृति है या मनुस्मृति काल की? हम कौन है? कहानी के माध्यम से लेखिका ने समाज में दलित जाति की शिक्षा संबंधी समस्याओं को उजागर किया है। दलित परिवार से होने के कारण एक बच्ची को स्कूल में समान स्थान नहीं दिया जाता, हर दिन वह मजाक का पात्र बनती। इसके अलावा इसमें शहरीकरण के ढाँचेगत विकास को दर्शाया है परन्तु शहरी मनुष्य की मानसिक स्थिति आज भी कहीं-न-कहीं मनुस्मृति

काल की है। यह कहानी वर्तमान समय में भी प्रासंगिक है।

लेखिका ने जिस प्रकार शिक्षा व्यवस्था पर दलित समाज के साथ हो रहे भेदभाव को दर्शाया है उसी तरह से अपनी अगली कहानी 'फरमान' के जरिए से भी समाज की रूढ़िवादी सोच पर प्रश्नचिह्न लगाया है। यह कहानी एक ऐसी कहानी है जिसमें मुख्य रूप से जाति-भेदभाव को दर्शाया गया है। इस कहानी के अंतर्गत दलित जाति के लोगों की ईमानदारी को नजरअंदाज करके उन पर किए जाने वाले अन्याय को देखा गया है। इस कहानी में 'कर्मवीर' है जो कि बहुत ईमानदार है और वह चौधरी की भैंसें चराता है परन्तु उसकी जाति चमार होने के कारण उसे निम्न जाति की ही नजरों से देखा जाता है। कर्मवीर की पत्नी (लीलावती) जो कि जंगलों में लकड़ी बीनती है। एक दिन कर्मवीर भैंसें चरा रहा था तभी कोई भैंसों को चुरा ले गया। यह कोई हादसा नहीं था बल्कि उसके खिलाफ रची गई साजिश थी। आज से पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था। उस दिन वह घर भी काफी देर से पहुँचा था, और परेशान भी था। तभी उसकी पत्नी ने पूछा और उसने चिंतित मन से लीलावती को सब कुछ बता दिया क्योंकि कभी न कभी लीलावती को पता लगना ही था। दोनों पति-पत्नी रातभर न सोए और सवेरा होने के इंतजार में थे। सुबह के वक्त लीलावती की आँख लग गई थी परन्तु कर्मवीर सुबह होते ही जंगल की तरफ निकल गया। समाज में दलित लोगों को गरीब, लालची समझकर उन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के आरोप लगा दिए जाते हैं। उनका सवर्ण जाति द्वारा शोषण किया जाता है। आज भी यही हुआ। सुबह दूध काढ़ते वक्त भैंसों की गिनती हुई जिसमें एक भैंस कम थी। तभी चौधरी ने कर्मवीर को बुला लाने का आदेश दिया। कर्मवीर घर पर नहीं था परन्तु चौधरी के लोगों ने लीलावती को बहुत बेइज्जत किया और 'चमार जाति' कहकर लीलावती की निंदा की।

उसके बाद कर्मवीर को पकड़कर चौधरी के समक्ष पेश किया गया। परन्तु चौधरी ने कर्मवीर से कुछ पूछा नहीं बल्कि अपनी बेगुनाही को साबित करने के लिए दो दिन की मोहलत दी। चौधरी चाह कर भी कर्मवीर की भूल को माफ न कर सका और फैसला पंचायत के हाथ सौंप दिया गया। समाज में पहले पंचायत को बहुत बड़ा महत्त्व दिया जाता था, वही लोग गाँवों के फैसले करते थे। कर्मवीर अपनी बेगुनाही साबित नहीं कर पाया और उसे सजा-ए-मौत का फरमान दे दिया गया। अंत में उसे गोली मार दी गई। इस कहानी के माध्यम से सवर्ण जाति द्वारा दलित लोगों पर हो रहे शोषण को दिखाया गया है। समाज में निम्न जाति का होने के कारण समान स्थान तो दूर इज्जत की नजरों से भी नहीं देखा जाता। उन्हें दोषी ठहरा दिया जाता है। कर्मवीर जैसे मेहनतकश और वफादार व्यक्तियों को वफा का सिला मौत के रूप में मिलता है।

डॉ. रजत रानी जी की अगली कहानी 'सुनीता' है जो दलित स्त्री-विमर्श पर आधारित है। 'सुनीता' कहानी ऐसी कहानियों में से एक है जो 'स्त्री सशक्तीकरण' का संदेश देती है। यह कहानी आम स्त्री की कहानी नहीं बल्कि एक दलित स्त्री की कहानी है जो अपने बलबूते पर दलित वर्ग को एक नयी पहचान दिलाती है। लेखिका ने इस कहानी के अन्तर्गत सुनीता को आत्मनिर्भर दिखाया है। सुनीता एक सात साल की बच्ची थी। वह ऐसे घर में पली-बढ़ी थी जहाँ बेटों को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है, उसको हर पल इस चीज का एहसास होता था कि वह एक लड़की है जो लड़के से अलग है और कुछ कम दर्जे की है। उसके भाई के जन्म के बाद घर में ढेर सारी खुशियाँ मनाई गईं, मोहल्ले भर में मिठाई बाँटी गई। उसे ऐसा लगता था बेटियाँ बोझ होती हैं और पराये घर की होती हैं। चूँकि वंश तो पुत्र सँभालता है। सुनीता यह बातें सुनती तो थी परन्तु गम का घूँट पीकर अपनी पढ़ाई में जुट जाती थी। सुनीता के माता-पिता बस उसे दिखावे के लिए पढ़ाते थे। सुनीता जिद्दी भी थी और मेहनती भी। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि उसे पढ़ना है। परीक्षा में वह प्रथम श्रेणी से पास हुई परंतु उसके पिताजी प्रसन्न नहीं हुए। सुनीता की खुशी उसके पिता की चिंता का कारण बनने लगी और वह सोचने लगे अब लड़की ब्याह लायक हो गई।

सुनीता के पिता उसके लिए रिश्तों की बात करते हैं, उसकी माँ को ऐसा रिश्ता बताते हैं, जो उसकी उम्र से पाँच गुना बड़ा और विधुर व्यक्ति था। यह बात सुनीता सुन लेती है और वह निराश होती है, परन्तु शादी से नहीं बल्कि अपने सपनों को लेकर क्योंकि उसे आगे बढ़ना है। वह अपनी माँ को समझाते हुए कहती है, ''माँ, चमार और भंगी जाति को इसलिए शिक्षा से दूर रखा जाता है ताकि ये लोग अपना साफ-सफाई का काम, चमड़े का काम न छोड़ दें। अगर दलित लोग पढ़ लेंगे तो बोलने लगेंगे, हक माँगने लगेंगे और सवर्ण जाति के समान बन जायेंगे, बड़ी-बड़ी पोस्ट पर आ जायेंगे''। सुनीता ऐसा इसलिए सोचती थी क्योंकि उसको बार-बार बोला जाता था कि वह एक दलित लड़की है, ज्यादा पढ़ने-लिखने का हक नहीं है। गाँवों के लड़कों ने भी कई बार छेड़ते हुए व्यंग्य कसा था परन्तु शिक्षा प्राप्त करने के लिए जीवन के कड़वे घूँट को उसने

पिया। देखते ही देखते सुनीता ने इंटर भी पास कर ली और शिक्षा और किताबों के खर्च के लिए उसने ट्यूशन पढ़ाना शुरू कर दिया था।

अब सुनीता ने बी. ए. पास कर लिया था और उसके पश्चात् गाँव के माहौल में परिवर्तन भी हुए, बाबा साहेब की मूर्ति भी लगी। एक अम्बेडकर छात्र दल भी बना। सुनीता ने बी. ए. के बाद बी. एड. भी किया और नौकरी के लिए उत्तर प्रदेश में अर्जियाँ दीं परन्तु दलित वर्ग की लड़की होने के कारण उसके हाथ सिर्फ निराशा ही लगी। फिर उसने दिल्ली में अर्जियाँ दी वहाँ उसे नौकरी मिली। उसने तरक्की का आसमान छुआ। वह अब भाषण भी देती थी और साथ ही आई. ए. एस. भी बनना चाहती थी। कुछ समय बाद उसके समक्ष राजनीति के लिए कई मौके आए थे और काफी सोच-विचार करने के बाद उसने चुनाव लड़ा, वह दो बार तो हारी परन्तु तीसरी बार वह चुनाव जीती और पार्टी की अध्यक्ष भी बनी।

दलित वर्ग के नाम से मुक्त सुनीता आज चरम सीमा पर थी। गाँव का रुख बदल गया था। गाँव के नेता जो कि उसकी शादी के पीछे पड़े रहते थे, आज वही उसके स्वागत में लगे थे। सुनीता के पिताजी ने गाँव के आधुनिकीकरण की बात कही तो उसने मुस्कुराते हुए कहा, ''पिताजी, मैं क्या कर सकती हूँ? मैं एक लड़की हूँ। यह काम तो आपके बेटे करेंगे।'' क्योंकि जब सुनीता छोटी थी तब उसके पिता ने यह बात कही थी। पिताजी झेंपे तो जरूर परन्तु सुनीता पर उन्हें गर्व हो रहा था। उसके पिताजी की रूढ़िगत सोच ढह गई थी, बेटी भी बाप से आगे बढ़कर कुछ कर सकती है, उसके पिता ने कहा और अन्त में सुनीता मुस्कुरा दी।

सुनीता कहानी दलित स्त्री-विमर्श को पहचान दिलाने वाली कहानी है। वह एक जुनूनी है। इस कहानी के माध्यम से लेखिका ने सर्वप्रथम घर से बँधी रूढ़िवादी परंपराओं से स्त्री को मुक्ति दिलाने का प्रयास किया। उसने आत्म-सम्मान से पूर्ण होने के कारण संघर्ष करके खुद पढ़कर अपना नाम रोशन किया। समाज के ताने, व्यंग्य सुनकर भी उसने हार नहीं मानी। निम्न जाति की होकर भी समाज की रूढ़िगत सोच की जंजीरें तोड़कर उसने सफलता प्राप्त की और दलित वर्ग के लोगों को समाज में नया स्थान प्राप्त कराने में पूर्ण योगदान दिया।

रजत रानी की अगली कहानी 'गिरोह' है। 'गिरोह' कहानी समाज की ऐसी कहानी को दर्शाती है, जहाँ जाति को तो नीचा दर्शाया जाता है परन्तु उनके आरक्षण को हथियाकर, फर्जी बनाकर उन्हीं के आरक्षण को सवर्ण जाति अपने नाम करा लेती है। इस कहानी की शुरुआत कुछ इस तरह होती है। शाम के अखबार में बड़े शीर्षक से खबर छपी थी 'गिरोह का पर्दाफाश। दस लोगों की फांसी की सजा उम्र कैद में बदली' सुषमा अखबार पढ़ते वक्त यह शीर्षक पढ़ती है और चकित होती है परन्तु सुषमा का पति कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता और वह कहता है मैं खबर जानता हूँ।

पाँच-सात लड़के विद्यालय के प्रांगण में गप्पें मार रहे थे। जातियों का प्रसंग छिड़ा था तो सुरेश ने कहा कि उसके घर वालों ने चमार व्यक्ति को पीटा क्योंकि वह मजदूरी करने से मना कर रहा था। तभी कैलाश शर्मा ने बोला, पिछली साल इन्हीं की जमीन तुम्हारे घर वालों ने छीनी थी। सुरेश फिर बोलता है, वह जमीन इनकी नहीं थी, मोल चुका नहीं पाए तो हमने ले ली थी। उसी के पश्चात् प्रदीप कैलाश के घर की पोल खोलते हुए बोलता है कि तुम्हारे बड़े भैया ने भी तो चमार जाति की स्त्री से शादी की है। कैलाश प्रदीप को डाँट देता है। वह बताता है उसकी भाभी रईस सीनियर आई. ए. एस. की बेटी है और खुद भी आई. ए. एस. की परीक्षा में बैठ रही है। प्रदीप ने फिर कहा, पर है तो चमारी, ऊँची नौकरी से जात नहीं बदल जाती। तभी ज्ञानदेव मिश्रा कहता है, आपस में क्यों झगड़ रहे हो। वह अपने दूर के रिश्तेदारों के बारे में बताता है कि उसकी ममेरी भांजी कुसुम एक पासी दलित जाति के व्यक्ति से शादी कर लेती है और विवाह के उपरान्त उसका पति पासी जाति का प्रमाण-पत्र बनवा देता है, जिससे कुसुम रेलवे में आरक्षण पाकर अफसर का पद प्राप्त करती है। कुसुम जो कि सवर्ण जाति की है लेकिन वह एक नौकरी लगने के बाद कुसुम विवाह जैसी पवित्र संस्था को छोड़ देती है क्योंकि उसका स्वार्थ पूरा हो जाता है।

पाँचवाँ लड़का 'विमल झा' इन सब बातों से ध्यान हटाते हुए सभी मित्रों को भविष्य की चिन्ता कर सभी को सम्बोधित करते हुए गम्भीर बात कही, मुझे वी. पी. सिंह पर गुस्सा आता है। एक राजपूत होकर पिछड़ों और अति पिछड़ों को भी आरक्षण दे दिया। वहीं दूसरी ओर समझदार व तीव्र बुद्धिवाला राकेश रस्तोगी अम्बेडकर और कांशीराम को दुश्मन बताता है। वहीं अरुण रस्तोगी सर खुजलाते हुए बोलता है, 'मेरे दिमाग में एक बात आ रही है। हम सबको हिसाब-किताब लायक पढ़ाई कर लेनी चाहिए और नौकरी छोड़कर बिजनेस करना ठीक रहेगा।' तभी एक बोला, बिजनेस करना हम सबके बस की बात नहीं और नौकरी करना चूड़े-चमारों की बपौती थोड़ी ही है।

उस ग्रुप का दादा बहादुर चतुर्वेदी अब तक चुपचाप

बैठा सबकी बातें सुन रहा था। और अन्त में बोलता है, जब तक वह है किसी को चिंता करने की जरूरत नहीं है। वह अपने रहस्य खोलता और सभी को बताता है कि किस प्रकार हम एस. सी., एस. टी. व ओ. बी. सी. के प्रमाण-पत्र बनवाएंगे। हम सब नौकरी करेंगे। उसमें से एक लड़के ने प्रश्न किया पर प्रमाण-पत्र बनवाएगा कौन? अगर पकड़े गए तो सजा कौन भुगतेगा?

इस कहानी के जरिए लेखिका ने समाज की उस शिक्षा नीति की ओर इशारा किया जहाँ बहुत धाँधलेबाजी होती है। फर्जी कार्य किया जाता है। समाज में जो आरक्षण दलितों के लिए किए गए हैं, वह उनके अधिकार की बात है।

अगली कहानी 'सेरोगेट मदर' नाम से है। इसमें मुख्य पात्र फूलमती की सबसे बड़ी बेटी जिसका नाम चन्दो है और वह कभी माँ बनने का सुख नहीं भोग पाई। चन्दो की सास उसे हमेशा खरी-खोटी सुनाती है लेकिन इस बार चन्दो को धमकी दे दी कि 'अगर इस बार बालक नहीं किया तो मैं अपने बेटे का दूसरा ब्याह कर दूँगी। विवश माँ अपनी बेटी चन्दो को डॉ. शुक्ला के पास ले गई थी। डॉ. शुक्ला फूलमती को बहुत अरसे से जानती थी क्योंकि फूलमती डॉ. शुक्ला के लिए सेरोगेसी का काम करती थी। उसने तीन बच्चों की सेरोगेसी की थी। उन बच्चों को अपनी कोख में नौ महीने अपने खून से सींचा था। जब बच्चा पैदा होने का समय होता था तो उनके असली माँ-बाप बच्चा लेने आ जाते थे और उसे ऐसा लगता था जैसे जमींदार अपना ब्याज लेने आते हैं। जब डॉ. शुक्ला को सेरोगेट मदर की जरूरत होती थी तो वह उसके घर आ जाती थी परन्तु जब आज चन्दो की सेरोगेसी के लिए गई तो डॉ. शुक्ला ने मशीनों का खर्चा बता कर मना कर दिया। फूलमती ने काफी मिन्नत करके डाक्टर को चन्दो की जाँच के लिए मना तो लिया परन्तु डॉ. ने प्रश्न किया तुम सेरोगेट लाओगी कहाँ से? तब चन्दो ने अपना नाम लिया कि जब मैं किसी और के बच्चों को जन्म दे सकती हूँ तो मैं अपनी चन्दो के लिए भी कर सकती हूँ। डॉ. शुक्ला ने उसे ध्यान दिलाते हुए कहा, 'अब यह तुम्हारे बस के बाहर है, तुम अब माँ नहीं बन सकती हो। तुम्हें याद नहीं जब तुमने आखिरी बार बच्चे को जन्म दिया था तब बड़े डाक्टर ने बताया था अब तुम कमजोर हो गई हो और शरीर भी छलनी हो गया है।

डॉ. शुक्ला ने फूलमती को निराशा ही दी और उसकी मदद करना तो दूर चन्दो का इलाज करना भी जरूरी नहीं समझा। फूलमती काफी निराश थी वह उस समय की तकलीफों को सोचने लगी थीं जो उसने झेली थी। सेरोगेट मदर होने की वजह से वह अपने पति को दूर जाने से रोक भी नहीं पाई। समाज उसको बुरे-बुरे ताने मारता था फिर भी उसने सेरोगेसी का काम नहीं छोड़ा था परन्तु विवश फूलमती के समक्ष चन्दो के लिए उम्र, गरीबी और जाति उसके आड़े आ गई थी। वह चन्दो के लिए कुछ भी न कर सकी।

इस कहानी के माध्यम से लेखिका ने फूलमती जैसी अनेक दलित महिलाओं पर हो रहे शोषण को दिखाया है। फूलमती को दूसरों के बच्चे पैदा करने पर पन्द्रह से सोलह हजार रुपये मिलते थे वहीं जब उसकी खुद की बेटी इस तकलीफ से गुजर रही थी, वह माँ नहीं बन सकती थी तब फूलमती अपनी बेटी के लिए कुछ नहीं कर सकी। डाक्टर ने उसे लाखों का खर्चा बताया और मदद करने से मना कर दिया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निर्धन व्यक्ति पैसे न होने के कारण कुछ भी करने को मजबूर हो जाते हैं।

हमने रजत रानी मीनू की कहानियों का अवलोकन करते हुए यह जाना है कि हमारे देश में दलितों के साथ किस तरीके का व्यवहार किया जाता है। यहाँ पर वैचारिक और व्यवहारिक में बहुत अंतर दिखाई देता है। जब तक विचार और व्यवहार एक होंगे तब तक समाज में समानता नहीं आ पाएगी।

संदर्भ

- डॉ. रजत रानी मीनू, 'हिन्दी दलित कथा-साहित्य : अवधारणाएँ और विधाएँ', प्रथम संस्करण (2010), अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 15
- डॉ. रजत रानी मीनू,(पत्रिका) 'देश और साहित्य', अंक, अप्रैल से जून (2019), सेरोगेट मदर (कहानी), पृ. 45
- डॉ. रजत रानी मीनू, 'हम कौन है?' प्रथम संस्करण (2012), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 15, 21, 29, 117
- पुन्नीलाल, सम्पादक, 'भारतीय साहित्य : परिप्रेक्ष्य', प्रथम संस्करण (2003), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 23, 325
- मुकेश मानस,'दलित साहित्य के बुनियादी सरोकार', प्रथम संस्करण (2003), आरोही प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 13
- डॉ. हिमांशु कुमार, साहित्य के सरोकार, संदर्भ, 'दलित एवं स्त्री-विमर्श' प्रथम संस्करण (2012), हंसा प्रकाशन, जयपुर, पृ. 58

डॉ. मोहम्मद इसराइल
एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
कमला नेहरू महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
मो.नं. 9818696278

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हिन्दी दलित साहित्य का उपादेयता

—डॉ कृपा शंकर

हिन्दी दलित कविता मध्यकाल के निर्गुण सन्त कवि रैदास और कबीर से होती हुई हीरा डोम और अछूतानन्द तक आयी है। इसके बीच लगभग 500 वर्षों का अन्तराल है। निश्चित रूप से इस बीच भी कुछ कवि हुए होंगे, जिन्होंने वर्चस्ववादी हिन्दू धर्म और संस्कृति के विरुद्ध आवाज उठायी होगी।[1] सन् 1914 के बाद भी दलित कविता कभी लोकगीत के रूप में, तो कभी रैदास और कभी अम्बेडकर के जीवन और विचारों के काव्यात्मक आख्यानों के रूप में निरन्तर विकसित होती रही। लेकिन साठ के दशक में मराठी के दलित कवियों ने अपनी विद्रोही चेतना से सम्पूर्ण मराठी साहित्य की नींव हिला दी। इसी कारण उसे देश में ही नहीं, विदेश में भी मान्यता प्राप्त हुई। उसी से प्रेरणा लेकर हिन्दी के दलित कवियों ने भी कविता का सृजन किया, जो अब प्रतिष्ठित होकर स्थापित हो गयी है।

हिन्दी दलित कविता की स्थापना में कुछ काव्य संकलनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनमें 'पीड़ा जो चीख उठी' तथा 'दर्द के दस्तावेज' के नाम उल्लेखनीय हैं। 'पीड़ा जो चीख उठी' में पच्चीस दलित कवियों की दो-दो कविताएँ संकलित हैं। हालाँकि, यह प्रथम दलित कविता संकलन है, लेकिन इसका कोई सम्पादक नहीं है। इसकी चर्चा उतनी नहीं हो पाई, जितनी होनी चाहिए थी। डॉ. एन. सिंह द्वारा सम्पादित काव्य संकलन 'दर्द के दस्तावेज' को ही हिन्दी दलित कविता के पहले और प्रतिनिधि संकलन के रूप में मान्यता मिली। श्री राधेश्याम तिवारी ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''अनेक कवियों की कविताओं के इस संकलन का सम्पादन डॉ. एन. सिंह ने किया है। यह संग्रह दलित साहित्य के चयन की दिशा में एक स्मरणीय प्रवास है।'' संग्रह के कवि डॉ. प्रेमशंकर, डॉ. सुखबीर सिंह, डॉ. चन्द्र कुमार वरठे, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. रामशिरोमणि होरिल, डॉ. दयानन्द बटोही, डॉ. एन. सिंह, डॉ. भूपसिंह और रघुनाथ व्यास हैं। इस काव्य संकलन को कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल के एम. ए. हिन्दी, उत्तरार्द्ध के पाठ्यक्रम में पढ़ाया जाता है तथा इसका मराठी में अनुवाद डॉ. पद्मजा घोरपड़े ने किया है। डॉ. एन. सिंह ने ही एक और काव्य संकलन 'चेतना के स्वर' सम्पादित किया जिसमें हिन्दी दलित कविता के बाहर प्रतिनिधि कवियों की कविताएँ संकलित हैं। इस कालविधि में जो दलित कवि प्रकाश में आये, उनकी उपलब्धियों का लेखा-जोखा यहाँ प्रस्तुत है।

हिन्दी में दलित कविता की बाकायदा शुरुआत बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में हुई। इसकी प्रेरणा डॉ. अम्बेडकर

की विचारधारा तो थी ही, महात्मा ज्योतिबा फुले का संघर्ष, मार्क्स की क्रांति दृष्टि तथा मराठी का दलित साहित्य भी रहा।''[2] इसके प्रारम्भिक दौर में हम श्री माताप्रसाद और डॉ. रामशिरोमणि होरिल जैसे कवियों के सृजन को देख सकते हैं। डॉ. होरिल ने अपने काव्य में प्रेमानुभूतियों को भी अभिव्यक्त किया है। उनके काव्य-संग्रहों में 'करील के काँटे' और 'जीवन राग' प्रमुख हैं। श्री माताप्रसाद ने यूँ तो 'भीम शतक', 'एकलव्य खण्डकाव्य' और 'दिग्विजयी रावण' प्रबन्ध काव्य भी लिखे, लेकिन उसकी पहचान राजनीति की अर्द्ध सतसई से हुई है। इसमें उन्होंने 350 दोहों में दलित, नारी और राजनीति को अपने दोहों का विषय बनाया है। इनके ये दोहे बहुत प्रभावकारी हैं तथा उनकी साधना और अनुभव को रेखांकित करते हैं। उनकी पीड़ा को महसूस करने के लिए यह एक ही दोहा पर्याप्त है।

''मनुष न पैदा होत यहाँ, जाति पेट से आय।
कंटक बनि वह गडि रही, मित्र कष्ट है पाय॥

श्री लालचन्द्र राही का नाम हिन्दी दलित कविता में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होंने सामाजिक स्थिति के कष्ट को लगभग सबसे अधिक भोगा है।[3] ये मजदूरी करते हुए पढ़े और फिर अध्यापक बने। अतः उनके अनुभवों का फलक बहुत बड़ा है। सम्भवतः इसीलिए वे लिख पाए कि मेरी स्थिति धोबी के कुत्ते से कम नहीं थी। मेरा नाम न स्कूल में था न कारखाने में। मेरे भाग्य में मूँगफली बेचना या कपबशी धोना ही था। उनकी कविताओं का संग्रह 'मूक नहीं मेरी कविताएँ' सचमुच हमें दहला देने वाले अनुभवों से गुजरने को विवश करता है। उनकी कविताएँ हमारे समय का सच बयान करती हैं। उनकी एक कविता, 'स्वतन्त्रता के बाद' का यह अंश देखने योग्य है :

पन्द्रह अगस्त के दिन फूल चढ़ाने पर/ डण्डे मिले/ पाण्डे देवपाल के / अछूत को उसी की बेटी के साथ बलात्कार हुआ/ और मन्दिर अपवित्र नहीं हुआ/ छब्बीस जनवरी की रात को।

स्वतन्त्र भारत के एक छोटे से गाँव से आने वाले डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी हिन्दी दलित कविता के एक अन्य महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। डॉ. सत्यप्रेमी के अब तक तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–'द्वार पर दस्तक', 'सवालों के सूरज' और 'मूक माटी की मुखरता'। इनकी कविता भी मोहभंग की कविता है। अपनी आँसू ही आँसू कविता में वे लिखते हैं :

आँसू ही आँसू है / मेरे भारत / नम हुई है आँसू से हर आदमी की आँख / और स्वतन्त्रता, स्वराज्य व समता का / सपना सँजोती भारतमाता / संशय की पीड़ा भोग रही है।

डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर भारतीय दलित साहित्य अकादमी, दिल्ली के अध्यक्ष हैं। हिन्दी दलित साहित्य के प्रचार-प्रसार में इनकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। अब तक इनके दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, 'अंधा समाज बहरे लोग' तथा 'सिन्धु घाटी बोल उठी', लेकिन इनकी कविता राजनीतिक बयान होने से नहीं बच सकी है।

फूलन / दलित शोषित समाज का प्रतीक है। चाहे उसे कितना भी बदनाम करो / तोहमत धरो / वह / हमारी ही नहीं सारी नारी जाति की / शौर्यगाथा है।

श्री मोहनदास नैमिशराय ऐसे दलित पत्रकार और कवि हैं, जिन्हें हिन्दी जगत में पर्याप्त सम्मान मिला है। देशभर के स्तरीय पत्र एवं पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ छपती रहती हैं। उन्होंने लगभग जिद पूर्वक स्वतन्त्र लेखन को अपनाया। 'लोकायन' और 'क्रान्तिधर्मी' पत्रिकाओं के वे सह-सम्पादक और बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय के सम्पादक रहे हैं। उनकी आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' (दोनों भाग) किसी हिन्दी दलित लेखक की पहली आत्मकथा मानी जाती है। अब तक उनका एक कविता-संग्रह 'सफदर का बयान' प्रकाशित हुआ है। अपनी एक प्रसिद्ध कविता 'फर्क तय करना है' में उन्होंने दलित जीवन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या को उठाया है कि जाति के कारण ही अपमान सूचक शब्द, जो कल तक गाँव और कस्बों में ही कहे जाते थे, अब महानगरों में भी क्यों कहे जाने लगे हैं।

एक ही मनुष्य जाति के होने पर भी/ जातिगत सम्बोधनों के आधार पर / कसैले से लगने वाले स्वर / कल तक जो गाँव और कस्बों के परिवेश में सुनाई देते थे/ आज उजालों के प्रतीक महानगरों में भी/ वही जातिगत सम्बोधनों के आधार पर/ कसैले से लगने वाले स्वर/ सुनाई पड़ने लगे हैं।

डॉ. दयानन्द बटोही पहले 'नयी लहर' और अब 'साहित्य यात्रा' अनियतकालीन पत्रिका के सम्पादक हैं। अपने दलित सरोकारों के कारण प्रताड़ित किए गये डॉ. दयानन्द बटोही ने दलित कविता में अपनी अलग पहचान बनाई है। उनका काव्य- संग्रह 'यातना की आँखें' नवगीत विधा में सामाजिक विसंगतियों को अभिव्यक्ति देता है, लेकिन पाठकों का ध्यान इनकी अन्य कविताओं ने ही खींचा है। उनकी एक प्रसिद्ध कविता है 'द्रोणाचार्य सुनें'। इस कविता में उन्होंने विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक में दलित छात्रों के साथ हो रहे अन्याय को मारक अभिव्यक्ति दी है।

मैं सिर्फ / द्रोण तुम्हारे रास्तों पर चले गुरु से कहता हूँ/ अब दान में अँगूठा माँगने का साहस कोई नहीं करता/ प्रैक्टिकल में फेल करता है। प्रथम अगर आता हूँ तो/ छठा या सातवाँ स्थान देता है/ जाति गंध टाइटल में खोजता है वह आत्मा और मन को बेमेल करता है।

डॉ. जयप्रकाश कर्दम हिन्दी दलित कविता के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। इनके दोनों काव्य-संग्रह 'गूंगा नहीं था मैं' तथा 'तिनका-तिनका आग' हिन्दी क्षेत्रों में काफी चर्चित रहे हैं। उनकी कविता की एक बानगी यहाँ प्रस्तुत है। वह अपनी दमन की दहलीज पर कविता में लिखते हैं :

तमाम विरोधों और दबावों के बावजूद / जाति के जंगल का यह जीव/ अपनी मुक्ति के लिए अड़ा/ अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए लड़ा है और आज / तमाम हौसलों के साथ / हाथों में खंजर लिए वह / दमन की दहलीज़ पर खड़ा है / और ललकार रहा है चीखकर / बाहर निकल हरामजादे / 'तेरी ऐसी की तैसी'।

यहाँ कुछ अन्य कवियों के काव्य-संग्रहों का उल्लेख करना भी समीचीन रहेगा। ये इस प्रकार हैं–शोषितनामा, डॉ. मनोज सोनकर, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती, कँवल भारती, प्रयास, सूरजपाल चौहान, व्यवस्था के विषधर, डॉ. कुसुम वियोगी, उत्पीड़न की यात्रा, लक्ष्मी नारायण सुधाकर, कलम को दर्द कहने दो, कर्मशील भारती, हार नहीं मानूँगा ईश कुमार गंगनिया, सुनो ब्राह्मण, मलखान सिंह, आक्रोश, डॉ. सी. बी. भारती आदि। इनके अतिरिक्त लगभग डेढ़ दर्जन कवि दलित कविता के क्षेत्र में संघर्ष कर रहे हैं। इन कवियों में सर्वश्री रत्नकुमार साँभरिया, डॉ. सुरेश पंचम, हरिकिशन सन्तोषी, आचार्य गुरु प्रसाद, डॉ. हेमलता माहेश्वर, रघुनाथ प्यासा आदि के नाम लिए जा सकते हैं। हिन्दी दलित कविता को पहचान के स्तर पर जिन कवियों ने स्थापित किया है उनमें डॉ. सुखबीर सिंह, डॉ. प्रेमशंकर, डॉ. एन. सिंह, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' तथा श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि के नाम लिए जा सकते हैं। इनकी कविताओं में अनुभूति की गहनता और शिल्प की प्रौढ़ता तो देखने को मिलती ही है। साथ ही अभिव्यक्त अनुभवों की प्रामाणिकता भी इनकी कविताओं का प्राण है, जिसके कारण ये कविताएँ बोधक तो हैं ही, बेधक भी हैं।

डॉ. सुखवीर सिंह हिन्दी के प्रतिष्ठित समीक्षक और कवि रहे हैं। कई आलोचनात्मक पुस्तकों के साथ-साथ उन्होंने कुछ काव्य संकलनों का सम्पादन भी किया। उनके तीन काव्य-संग्रह 'अनन्तर', 'बयान बाहर' और सूर्यांश प्रकाशित हुए हैं। उनका 'बयान बाहर' काव्य-संग्रह अपनी संवेदना और शिल्प के कारण बेहद चर्चित हुआ। यह हिन्दी की लम्बी कविताओं में अपना विशेष स्थान एवं महत्त्व रखता है। एक लम्बी कविता में उन्होंने आत्मकथात्मक शैली में किसी दलित के आगे बढ़ने की आकांक्षा में लहूलुहान होने की प्रक्रिया को रेखांकित किया है।

उस दिन मैंने/ दूसरों के आगे बढ़ने के लिए / रास्ता छोड़ने की बन गयी लीक से/ अलग हटकर अपना पाँव जमा/ खुद को आगे बढ़ाना चाहा/ तभी मैंने/ आग को चिमटे की नोंक पर नहीं अपनी हथेली पर सुलगते पाया।

डॉ. प्रेमशंकर लम्बे समय से दलित कविता की रचना यात्रा से जुड़े हैं। वे एक अनियतकालीन पत्रिका 'अम्बेडकरीय कविता' भी निकालते हैं। वे इस कविता को दलित कविता के स्थान पर अम्बेडकरीय कविता कहना उचित समझते हैं।[5] अब तक उनके कुछ समीक्षात्मक ग्रन्थों के अतिरिक्त दो काव्य-संग्रह 'नयी गंध' तथा कविता 'रोटी की भूख' तक प्रकाशित हुए हैं। अपनी बात को उत्तेजना के साथ कहना उनकी कविताओं की विशेषता है। उनकी एक कविता 'वे सभ्य हैं' में यह प्रहारात्मक क्षमता देखते ही बनती है।

वे सभ्य हैं / आदमी से / हाथ मिलाने के बाद / हाथ धोते हैं माजते हैं और फिर / मुस्कुरा कर कहते हैं। हम एक हैं / फिर हाथ धोते हैं ताकि / हाथ में आदमी की / जाति न छप गयी हो।

डॉ. एन. सिंह, समीक्षक और कवि हैं। हिन्दी दलित साहित्य की स्थापना में ये अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। डॉ. एन. सिंह मूलतः आक्रोश के कवि हैं। व्यवस्था पर चोट इनकी कविताओं का केन्द्रीय भाव है तथा सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय उनका लक्ष्य है। अब तक इनका एक काव्य-संग्रह 'सतह से उठते हुए' प्रकाशित हुआ है। सीधी सपाट भाषा में सामाजिक विसंगतियों पर चोट करती इनकी एक कविता यहाँ प्रस्तुत है :

सतह से उठते हुए मैंने जाना कि इस धरती पर किए जा रहे / श्रम में जितना हिस्सा मेरा है/ इस धरती के हवा, पानी और/ इससे उत्पन्न होने वाले / अन्न और धन में भी है। अब मैं समझ गया हूँ। उस अंक गणित को / जिसके कारण / मेरे श्रमकण मिट्टी में मिलकर / दूसरों की झोली को / भर देते हैं मोतियों से और / मेरी झोली में होती है/ भूख, बेबसी और लाचारी/ इसलिए

अब / मेरे हाथ की कुदाल / धरती पर कोई नींव खोदने से पहले / कब्र खोदेगी उस व्यवस्था की / जिसके संविधान में लिखा है / तेरा अधिकार सिर्फ कर्म में है / श्रम में है/ फल पर तेरा अधिकार नहीं।

डॉ. श्योराज सिंह 'बेचैन' हिन्दी दलित कविता के बड़े कवि हैं। उनके दो चर्चित काव्य-संग्रह 'नयी फसल' और 'क्रौंच हूँ मैं' प्रकाशित हुए हैं। इनकी एक कविता यहाँ उद्धृत है :

इन आँखों के सपने तो टूट गये लेकिन जिन आँखों में जन्मे ही नहीं उनकी सोची/ तुमने तो कह ली/ अपनी और पराई भी/ अब खोल/ सको तो बेजुवान का मुँह खोलो

कवि और कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि अब किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। हिन्दी दलित कविता के इस प्रतिष्ठित कवि के अब तक दो महत्त्वपूर्ण काव्य-संग्रह 'सदियों का सन्ताप' और 'बस्स! बहुत हो चुका' प्रकाशित हुए हैं। धर्म, दर्शन और पौराणिक मिथकों की पुनर्व्याख्या उनकी कविताओं की मुख्य विशेषता है। उनकी एक कविता 'शायद आप जानते हों' का एक अंश यहाँ प्रस्तुत है :

तुम्हारे रचे शब्द/ तुम्हें इसी साँप बनकर/ गंगा किनारे कोई वृक्ष हूँ/ लो कर लो भागवत का पाठ/ आत्मतुष्टि के लिए/कहीं अकाल मृत्यु के बाद/भयभीत आत्म/ भटकते-भटकते / किसी कुत्ते या सुअर की मृत देह में प्रवेश न कर जाए/ या फिर पुनर्जन्म की लालसा में किसी डोम या चूहड़े के घर/ पैदा न हो जाए चूहड़े या डोम की आत्मा/ ब्रह्मा का अंश क्यों नहीं है/ मैं नहीं जानता / शायद आप जानते हों /

हिन्दी दलित कविता की नित नयी सम्भावनाएँ खुल रही हैं, लेकिन उसकी कुछ सीमाएँ स्पष्ट भी होती जा रही हैं। जैसे प्रत्येक दलित कवि लगभग एक ही प्रकार की संवेदनाओं को अभिव्यक्ति दे रहा है। इस पुनरावृत्ति का कारण सम्भवतः सभी कवियों का एक ही प्रकार की स्थितियों और अनुभवों से गुजरना रहा है। सही मायने में यह कविता अपमानित पीढ़ियों की कोख से जन्मी है। बावजूद इसके, दलित कवियों की कविताएँ आत्माख्यान से निकलकर अपने शिल्प को निखारने का प्रयास कर रही हैं। वे अब विकास की प्रारम्भिक सीढ़ियाँ पार कर चुकी हैं।

हिन्दी में पहली कहानी कब और किसने लिखी, इस पर तो विवाद हो सकता है, लेकिन यह निर्विवाद है कि कहानी का जन्म तो मनुष्य के जन्म के साथ ही हुआ है। कहानी कहने-सुनने की परम्परा उतनी ही पुरानी है, जितनी कि मनुष्य के जैविकीय विकास की कथा। हिन्दी की पहली कहानी 1900 के बाद ही प्रकाशित हुई 'सरस्वती' में। यह युग हिन्दी कहानी के विकास का प्रारम्भिक काल है जिसे इतिहासकार और आलोचक प्रसाद युग के नाम से जानते हैं और यह युग ऐसा है, जिसमें दलितों का विद्रोह धीरे-धीरे सुलगता हुआ, सामाजिक धरातल तक आ पहुँचा था। स्वतन्त्रता आन्दोलन के क्षितिज पर महात्मा गाँधी का उदय हो चुका था, जिन्होंने पहली बार समझा था कि यह लड़ाई किसी एक वर्ग या जाति के लड़ने से नहीं जीती जा सकती। इसमें सभी धर्मों, जातियों और वर्गों के लोगों ने सहयोग दिया, जिनमें अछूत भी थे। तभी अपनी विस्फोटक विद्रोही चेतना लेकर डॉ. अम्बेडकर भी भारत के राजनीतिक फलक पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए आ पहुँचे थे। डॉ. अम्बेडकर केवल भारत की आजादी ही नहीं चाहते थे, बल्कि अछूतों की हिन्दू धर्म से मुक्ति भी चाहते थे।

संदर्भ सूची

1. सिंह एन., 'दलित साहित्य के प्रतिमान', वाणी प्रकाशन, संस्करण 2016, पृ॰ 24
2. वही, पृ॰ 26
3. वही, पृ॰ 28
4. वही, पृ॰ 29
5. वही, पृ॰ 32

डॉ. कृपा शंकर
85/12-जी, छोटा बगघेडा
जिला प्रयागराग (उ.प्र)
मोबाईल नं. 8858603515
ई-मेल : ksp221184@gmail.com

हिन्दी सिनेमा में दलित-विमर्श

शोधार्थी–संजय कुमार सिंह
शोध निर्देशक–डॉ. शाह आलम

साहित्य समाज का दर्पण है, नाट्य और सिनेमा साहित्य का तकनीकी विस्तार हैं। सिनेमा साहित्य पर्दे पर लाने में निर्माता को कलाकर और तकनीशियन की भारी भीड़ के जोखिम से गुजरना होता है। दलित-विमर्श पर सिनेमा बनें तो हैं पर किन सन्दर्भों के साथ इस पर भी प्रश्न उठते रहे हैं। दलित समस्या पर बनी ज्यादातर फिल्में समानांतर सिनेमा का टैग पाकर शहीद हो गयीं। भारत के वर्णवादी समाज में दलित कितना दबा-कुचला हाशिये पर पड़ा है, यह किसी भी संवेदनशील व्यक्ति से छिपा नहीं है। भारतीय सिनेमा में भी जाति-भेद को भारतीय संस्कृति की तरह स्वीकार करने की मानसिकता शुरू से ही रही है। पर जातीय उत्पीड़न के खिलाफ दलितों के लगातार चले आ रहे संघर्ष को आम तौर पर हिन्दी सिनेमा नजरअंदाज करता रहा है। यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि हिन्दी सिनेमा में दलित-विमर्श को मिला स्थान ऊँट के मुँह में जीरा के जैसा ही है। साथ ही, हमें यह भी ख्याल रखना है कि सिनेमा मूलतः मनोरंजन का विषय है। हिन्दी सिनेमा ने इस व्याख्या को बार-बार तोड़ने की कोशिश की है। 'अछूत कन्या', 'मदर इण्डिया', 'खानदान' या 'पिंजर' हो तमाम सामाजिक मुद्दों पर फिल्में बनी हैं, सराही गयी हैं। दलित समाज की वास्तविक समस्या पर बहुत गहराई से चीड- फाड़ नहीं हुई है। हाल की फिल्म आर्टिकल 15 बहुत गहराई से पड़ताल करती दिखती भी है लेकिन सवर्णों की मानसिकता के साथ। यह निम्न वर्ग के उस संघर्ष की बात नहीं करती जिसकी वजह से यह मामला सामने आया। सिनेमा के लिए दलित-विमर्श की बहुत सारी भूमि अभी भी खाली है जिस पर काम करना बाकी है।

1913 में दादा साहब फाल्के द्वारा बनाई गई फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के बाद भारतीय सिनेमा लगातार बढ़ता रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आजादी के पूर्व और बाद भी जितनी फिल्में बनी हैं उनमें सामाजिक समस्याओं को बहुत ठीक ढंग से उकेरा गया। सामाजिक स्तर के समरूपता का वातावरण तैयार करने की कोशिश की गई थी लेकिन इसके बाद भी सामाजिक सरोकार वाली ऐसी यादगार कोई फिल्म नहीं बनी जो जाति-व्यवस्था पर बहुत जोरदार ढंग से प्रहार करती हो। फिल्मों की शुरुआत निःसंदेह धार्मिक पृष्ठभूमि से हुई थी लेकिन 'दो आँखें बारह हाथ', 'सुजाता' या 'मदर इण्डिया' जैसी फिल्म हों इनमे वंचितों और साहूकारों के साथ फैक्ट्री मालिकों, मजदूरों आदि की समस्याओं को

उकेरती रहीं। एन. विजय लक्ष्मी और ए. स्वामी के अनुसार 1951 में फिल्म 'आवारा' अमीरों को गरीबों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखने को संदेश देने के लिए बनाई गई थी, पर इसमें भी कई गरीब लोग निचली जाति के दिखाए गए थे। इसी संदेश तथा मानसिकता को आगे बढ़ाती 'काला बाजार' 1960 और 1961 में आई 'गंगा जमुना' रहीं। हाँ, बीच-बीच में समानांतर सिनेमा कहकर मुख्य धारा से हटा दिया गया। चाहे वह 'आक्रोश' हो या श्याम बेनेगल का 'अंकुर' हो। पर्दे पर दलित विषयों को छूती जो फिल्म टिकट खिड़की पर चली नहीं उन्हें आर्ट फिल्मों का दर्जा दे दिया गया। कुलदीप सिंह मानते हैं कि 'अछूत कन्या' दलित चिंतन पर बनी पहली सार्थक फिल्म है। 1936 में आई 'अछूत कन्या' से लेकर 2019 में 'आर्टिकल 15' तक की फिल्मों में दलित का उद्धार करने वाला नायक ऊँची जाति के समुदाय से है। दलित लड़की से विवाह करने वाला अछूत कन्या का नायक ब्राह्मण जाति से है। अनुभव सिन्हा के चर्चित फिल्म आर्टिकल फिफ्टीन में दलित शोषण के खिलाफ आवाज उठाने वाला नायक अधिकारी ब्राह्मण है। जिस विषय को लेकर यह फिल्म बनी है उसको आंदोलनों के द्वारा दलित समाज के लोग ही सामने लाए थे पर इस बात को नजरअंदाज कर दिया गया। 2015 में आई 'मसान' और 2018 में आई 'धड़क' भी कई संदेशों के साथ बढ़ती तो हैं, पर प्रेम पर आकर पुरानी परिपाटी को ही आगे बढ़ाती हैं। दरअसल, कुछ एक फिल्मों को छोड़कर अधिकतर फिल्मकारों की रचनात्मकता की पतंगे, दलित स्वाभिमान पर बनते-बनते, गरीब, प्रेम या कुली पर अटक जाती हैं। क्षेत्रीय सिनेमा भी इन विषयों पर हिन्दी की परिपाटी पर ही है। 'धड़क' मराठी फिल्म सैराट की रीमेक है। इसमें दलित युवक और ऊँची जाति की लड़की के प्रेम प्रसंग और ऑनर किलिंग को दिखाते हुए यह बताने की कोशिश की गई है कि सवर्ण को अपनी लड़की को उसकी मर्जी से भी किसी निचली जाति के लड़के के प्रेम सम्बन्ध या विवाह मंजूर नहीं। ऑनर किलिंग के नाम पर इस घटनाक्रम को अंजाम देने में आज की पीढ़ी भी शामिल है जिसे प्रगतिशील कहा जाता है।

भारतीय समाज खासकर हिंदू समाज में तमाम आधुनिकता के बावजूद, आज भी वही दोहरी मानसिकता जातिगत भेद द्वेष व कुण्ठा की भीतरी धारा इतनी प्रबल है कि कुछ आधुनिक बच्चों को भी दोहरी मानसिकता के अभिभावकों के सामने हथियार डालना इसलिए पड़ता है और फिर कहीं-न-कहीं उनकी मानसिकता में भी ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कीटाणु जागते हैं। प्रोफेसर दीनदयाल उपाध्याय मानते हैं कि सिनेमा में दलित उपेक्षा का बड़ा कारण यह भी लगता है कि पूँजी लगाने वाला सवर्ण है और वह श्रेष्ठता की भावना से ग्रस्त है। मराठी भाषा की फिल्म 'सैराट' 4 करोड़ से कम बजट में बनी थी जिसका बाक्स ऑफिस कलेक्शन 100 करोड़ से ऊपर था। इसलिए हिन्दी निर्माताओं को सामाजिक तंत्र के ताने-बाने से ज्यादा अर्थ तंत्र ने एक रीजनल फिल्म का रीमेक करने के लिए मजबूर किया।

भोजपुरी फिल्म 'नौटंकी' तथा 'रानी बिटिया राज करेगी' जैसे फिल्मों के लेखक निर्देशक बीरेन्द्र पासवान ने शोधकर्ता को फोन पर बताया कि ऊपरी तौर पर लगता है कि फिल्म इंडस्ट्री में काम करने वालों के बीच समानता है, पर बहुत सारे दलित समाज के प्रतिभाशाली लोग फिल्म इंडस्ट्री में अपनी दलित पहचान को छुपाते हैं। जहाँ तक रही भोजपुरी सिनेमा की बात तो उसमें दलित चरित्रों को रूढ़िवादी तरीके को ध्यान में रखकर ही दिखाया जाता है। कुमार अजय भी मानते हैं कि हिन्दी सिनेमा में दलितों का चरित्र चित्रण काफी कमजोर रहा। वास्तव में समानता की बात करने वाला सिनेमा कभी भी इस सोच के प्रति मुखर नहीं दिखा! गरीबी कम-ज्यादा हर वर्ग समुदाय या जाति में है फिर दलित ही क्यों? 1983 की राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त फिल्म 'दामुल' जैसी फिल्मों में दलित विषयों की बात की गई। उनमें भी दलितों के स्वरूप को असहाय और बेबस स्वरूप को ही सामने लाया गया।

वानखेडे हरीश के अनुसार यथार्थवादी सिनेमा जिसमें वास्तविकता के जैसा दिखाने की बात की जाती है, उन फिल्मों में भी दलितों को अपमानित तथा असहाय के रूप में प्रस्तुत किया गया। चौहान विशाल अपने शोध में पाते हैं कि हिन्दी सिनेमा में जातिवाद को हिन्दुओं में चली आ रही परिपाटी के तौर पर दिखाया जाता रहा है जिसमें दलित में विश्वास की भावना कम है और वह असहाय है। जितेन्द्र बिसारिया लिखते हैं कि 1973 में आई 'बाबी' में दलित मछुआरे की लड़की और उच्च वर्ग के लड़के में प्रेम प्रंसग को दिखाया गया है। इस फिल्म में लड़की का पिता न तो कमजोर है न असहाय। वह अपनी लड़की के हक के लिए किसी भी हद तक जाने को तत्पर है। यह चरित्र सिनेमा में उस वक्त दलित की मुखरता और समाज की मुख्यधारा का पात्र होने से समाज में अपने हक की बात करने की सतह पर सामाजिक मापदंड का मार्ग सुझाती है। 2015 में बिहार के गया के दशरथ माँझी पर बनी फिल्म 'माँझी द माउंटेन मैन' जोखिम के पार का रास्ता दिखाती

है, लुभाती है। पर अर्थ का भय, ऑडियेन्स भय निर्माताओं को लगा रहता है। फिल्म की लिखावट सेलूलाइड पर किरदारों से की जाती है। 'तीसरी कसम' जैसी साहित्यिक फिल्म का क्या हश्र हुआ, शैलेन्द्र जैसे रत्न को खोना पड़ा! घाटे के उस सदमे से उबर नहीं पाए थे। और पहली और मूलभूत बात यह है कि हिन्दी सिनेमा में दलित-विमर्श उठाने का जोखिम उठाए।

प्रोफेसर कुमार भास्कर के अनुसार दलित समाज अभी भी सामाजिक नौकरी तथा भरण-पोषण की समस्याओं में फँसा हुआ है, इसलिए सिनेमा जैसे रचनात्मक क्षेत्र के लेखन डायरेक्शन और एक्टिंग जैसी विधाओं में उनकी पहुँच सवर्णों के अनुपात में काफी कम है और यह सिनेमा के पर्दे पर भी परिलक्षित होता है। एक तरह से कह सकते हैं कि जो हाल समाज में है दलितों का वही हाल सिनेमा के पर्दे के पीछे और पर्दे पर भी है। बुद्धिजीवी वर्ग बराबरी की, सामाजिक समरसता की बातें मंच पर भले ही हाँकते हों, पर धरातल पर, व्यावहारिक स्तर पर सदियों से हमारे बीच की क्रूरतम भयानक भेदभाव, तिरष्कार कूट-कूट कर भरा है। सामाजिक सुधार के व्यावहारिक स्तर पर हमने आँख मूंद रखी है।

मुख्य बात यह है कि कितने दलित मुख्य धारा में हैं। फिल्म पहले कागज पर ही बनती है अर्थात् लिखा जाता है। लिखे जाने में कोई खर्च नहीं दिखता है! लेखक की आजीविका कैसे चले, मुंशी प्रेमचंद जी से लेकर रमेश बक्षी तक फिल्मी सफर किए हैं! लेकिन वे इसीलिए वहाँ टिक नहीं पाए क्योंकि उन्हें विषय-वस्तु से छेड़छाड़ पसंद नहीं था। बॉक्स ऑफिस के खिड़की कलेक्शन के दबाव में वे लेखन से समझौता नहीं कर सके थे। ये सन्दर्भ भी इस विषय को समझने के लिए पर्याप्त है कि सिनेमा अपने फायदे को लेकर पहले चिंतित है, बाकी के विषय बाद में हैं, चाहे वो साहित्य हो या दलित अस्मिता का विषय हो।

हिन्दी साहित्य का लेखक ही दूसरे दर्जे का जीवन जीता है। लेखन के साथ उसे आजीविका के लिए कोई दूसरा काम करना पड़ता है। हिन्दी साहित्य में शिवमूर्ति मात्र पाँच- छः कहानियाँ लिखकर स्थापित हुए। उनकी मर्मस्पर्शी कथा 'तिरिया चरित्र' पर फिल्म बनने की घोषणा होते ही रह गयी। विजय दान देथा की चरण दास चोर पर हबीब तनबीर जीवन भर नाटक करते रहे, फिल्म भी बनी पर बहुत चर्चा में नहीं आयी। एक दलित चोर और रानी के बहाने भारतीय समाज के दोहरे जीवन का पर्दाफाश किया गया है। सिनेमा की समझ के साथ व्यवसाय की समझ का मिश्रण अनिवार्य शर्त होती है। किसी भी कहानी या पटकथा को इन यक्ष प्रश्नों से होकर गुजरना पड़ता है इसमें दलित विषय भी शामिल है।

दलित विषय पर अपने हिस्से का काम जितने पुरजोर तरीके से करना चाहिए था उस पर सिनेमा ने ईमानदारी नहीं बरती। कारण जो भी रहा हो, आर्ट फिल्मों में कुछ कोशिश जरूर हुई है। दलित आंदोलनों का लम्बा इतिहास रहा है जो सिनेमा में न के बराबर है। दलित संघर्ष की दास्तानों में लाचार दलित ज्यादा है। सिनेमा मनोरंजन होता हुआ भी सामाजिक परिवर्तन में अपने हिस्से की भूमिका तो निभाता ही है। हाँ, गंभीर विषयों पर समाज के अंतिम व्यक्ति पर दलित पर फिल्म गिनती की हैं। दलित या अंतिम व्यक्ति पर फिल्म बनाना दुस्साहस का काम है। 'माँझी द माउंटेन मैन' जैसी फिल्म एक भरोसा जरूर देती है।

संदर्भ-ग्रंथ

- सिंह कुलदीप, 2021; शोध लेख, 'हिन्दी सिनेमा में दलित जीवन की अभिव्यिक्त'। http://14.139.206.50:8080/kzspui/bitstream/1/7555/1/Poorvottar%20Prabha-42-46.pdf
- Chauhan, V.k (2019).k From Sujata to Kachra: Decoding Dalit representation in popular Hindi cinema.k South A sian Popular Culture, 17(3), 327-336.
- Vijayalakshmi, N., & Swamy, A .k M.k (2019).k Dalit representation in Indian cinema.k International Journal of Research in Social Sciences, 9(6), 191-201.
- Wankhede, H.k S.k (2013).k Dalit representation in Bollywood.k Mainstream Weekly, 4 May 2013, www.k mainstrea mweekly. k net/article4161.k html.
- कुमार अजय, 'हिन्दी फिल्मों में दलित पत्रों के समावेशन और उनकी भूमिका पर एक अध्ययन', शोध पत्र https://bit.ly/34bh5lJ
- जितेन्द्र बिसरिया, (2013) लेख, सिनेमा में दलित-चेतना https://bit.ly/3oqlM24
- डा. कुमार भास्कर; शोध लेख–हिन्दी सिनेमा में दलित नायक, 2021, https://bit.ly/3J6tg28

सोशल मिड़िया संदर्भ

- अंकुर चन्द्रभूषण; सिनेमा में दलित हाशिए पर, 2009 https://hindi.oneindia.com/cj/chandra-b-ankur/2009/hindi-cinema-caste.html
- हिन्दी सिनेमा दलित आदिवासी विमर्श प्रस्तावना से https://backup.pondiuni.edu.in/sites/defaultf/iles/event-hindi-National-Conference 100715.pdf

महान वैज्ञानिक मेघनाद साहा का जाति के विरुद्ध संघर्ष

–प्रेम कुमार

बीसवीं सदी के भारत के महानतम वैज्ञानिकों में जगदीश चंद्र बोस, सी.वी. रमण और सत्येन्द्रनाथ बोस के साथ मेघनाद साहा का भी नाम शामिल है। 1930 के दशक में वे भारत के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक थे। विज्ञान के लिए मेघनाद साहा आज भी एक बड़ा नाम है। मेघनाद साहा को नोबल पुरस्कार के लिए नामांकित भी किया गया था, परन्तु कई कारणों से उन्हें यह पुरस्कार नहीं मिल पाया था। इसके बावजूद, दुनिया ने उन्हें सेलेक्टिव रेडिएशन प्रेशर का जन्मदाता माना और यह भारत की तरफ से विश्व विज्ञान को एक बड़ा योगदान है। साहा का सिद्धांत स्टेलर स्पेक्ट्रा की उत्पत्ति की व्याख्या करता है। आर्थुर एडिंग्टन ने इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका लिखते समय साहा की इस खोज को खगोल विज्ञान का 12वीं सदी का सबसे महत्त्वपूर्ण खोज माना था। (नाईक, 2017, पृ॰ 1) साहा एक ईमानदार वैज्ञानिक के साथ-साथ एक महान निर्माता भी थे। अपने जीवन काल में उन्होंने कई संस्थाओं का निर्माण किया था।

1. नेशनल अकेडमी ऑफ साइंस, इलाहाबाद (1932)
2. इंडियन फिज़िकल सोसायटी, कलकत्ता (1935)
3. नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस ऑफ इंडिया, दिल्ली (1935)
4. इंस्टीट्यूट ऑफ न्यूक्लियर फिज़िक्स, कलकत्ता (1948)
5. जर्नल 'साइंस एण्ड कल्चर', 1935

जहाँ साहा की खोजों को तथा उनके द्वारा बनायी गयी संस्थाओं को एक उत्सव की तरह लिया गया और उन पर कई कृतियाँ लिखी गयीं, वहीं उनके जीवन के संघर्षों को इतिहास के पन्नों से या तो गायब कर दिया गया या दबा दिया गया। जहाँ तक हम देखते हैं, अगर एक गरीब ब्राह्मण या उच्च जाति का व्यक्ति कोई महानता हासिल करता है तो उसका दोनों पक्ष सामाजिक और आर्थिक उजागर किया जाता है, ताकि आगे आने वाली पीढ़ियाँ उनसे प्रेरणा लें और आगे बढ़ें। परन्तु साहा के जातीय पक्ष को बार-बार छुपाया गया है ताकि दलित, पिछड़े और आदिवासी उनको अपना आदर्श न बना सकें। यह लेख इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर लिखा जा रहा है ताकि निम्न जातियों के नायकों तथा उनके संघर्षों को मुख्यधारा में शामिल

किया जा सके जिससे आगे आने वाली पीढ़ियाँ उनके बताए कदमों पर चलकर वही महानता हासिल कर सकें।

साहा का जन्म 6 अक्टूबर, 1893 ई. में एक गरीब निम्न जाति के बनिया परिवार में अविभाजित भारत के ढाका से 45 किलोमीटर दूर सियोरतली नामक गाँव में हुआ था। उनका गाँव साहों का गाँव था जहाँ अधिकांश लोग छोटे व्यापारी थे। उनका गाँव बलियादी के नवाबी के अंतर्गत आता था। इनके पिता जगन्नाथ छोटी सी परचून की दुकान चलाकर परिवार का भरण-पोषण कर रहे थे। मेघनाद अपने आठ भाई बहनों में से पाँचवें क्रम पर थे। (नाईक, 2017, पृ॰ 30-40) उनकी प्रारंभिक पढ़ाई पूरी होने के बाद पिता चाहते थे कि मेघनाद भी दुकान के काम में हाथ बँटाए परन्तु साहा पढ़ना चाहते थे। माध्यमिक विद्यालय, सिमुलिया में था जो उनके गाँव से दस किलोमीटर दूर था और आने-जाने का कोई भी साधन नहीं था। बड़े भाई ने सिमुलिया गाँव में आनंद कुमार दास के रूप में एक संरक्षक ढूँढ़ निकाला जो पेशे से चिकित्सक थे।

यहाँ से मेघनाद साहा के संघर्ष की कहानी की शुरुआत होती है जो पूरे जीवन तक चलती रही। जाति के विरुद्ध साहा के संघर्ष की कहानी वैसी ही है जैसी अन्य दलित नायकों की है। वैसे, आनंद कुमार दास अच्छे व्यक्ति थे परन्तु उनके घर में रहने की शर्तों के अनुसार मेघनाद को अपने बर्तन स्वयं धोना था और घर का छोटा-मोटा कार्य भी करना होता था जैसे गाय को चारा देना। (नाईक, 2017, पृ. 30) बचपन में उनके साथ जातीय भेदभाव की एक दुखदायी घटना घटी। सरस्वती पूजा के एक कार्यक्रम में पुजारी ने उन्हें बदतमीजी से मंच से नीचे उतर जाने को कहा क्योंकि ये नीची जाति के थे। इसके बाद मेघनाद ने पूजा अनुष्ठान में हिस्सा लेना लगभग छोड़ दिया था। (नाईक, 2017, पृ॰ 32)

माध्यमिक परीक्षा में जिला में प्रथम स्थान पाने के कारण उन्हें 4 रूपए प्रतिमाह की छात्रवृत्ति प्राप्त हुई और वे ढाका के कॉलेजियट विद्यालय में आगे की पढ़ाई पूरी करने आ गए। इसी दौरान 1905 में बंगाल-विभाजन के कारण स्वदेशी आंदोलन की शुरुआत हो चुकी थी। कहते हैं, स्वदेशी आंदोलन में भाग लेने के कारण न केवल उन्हें विद्यालय से निकाल दिया गया बल्कि छात्रवृत्ति से भी हाथ धोना पड़ा। उन्होंने किशोरीलाल जुबली विद्यालय से दसवीं के समानांतर परीक्षा में पूर्व-बंगाल में प्रथम स्थान प्राप्त किया था। इसके बाद उन्होंने ढाका कॉलेज से विज्ञान में इंटरमीडियट की परीक्षा 1911 में उत्तीर्ण कर कलकत्ता के विख्यात प्रेसीडेंसी महाविद्यालय में प्रवेश लिया। इंटरमीडियट में उन्होंने ढाका विश्वविद्यालय में प्रथम तथा प्रदेश में तृतीय स्थान प्राप्त किया था। इंटरमीडियट में ही इन्होंने जर्मन भाषा का भी अध्ययन किया ताकि वैज्ञानिक लेखों को मूलरूप में पढ़ सकें।

प्रेसीडेंसी महाविद्यालय उनके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय साबित हुआ। इसी महाविद्यालय में जहाँ प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बोस उनके गुरु थे, वहीं 'बोसोन' पार्टिकल के खोजकर्ता सत्येन्द्रनाथ बोस इनके सहपाठी और घनिष्ठ मित्र बने। पी.सी. महालनोविस इनके वरिष्ठ सहपाठी थे। (नाईक, 2017, पृ॰ 33) इस महाविद्यालय में भी उन्हें जातीय भेदभाव और उत्पीड़न का सामना करना पड़ा। महाविद्यालय के इडेन हिन्दू छात्रावास में वे रहते थे। यद्यपि जातीय भेदभाव को लेकर मेघनाद अन्य दलित नायकों की तरह प्रखर नहीं थे और अपने अनुभवों को वे साझा नहीं करते थे। परन्तु उनके घनिष्ठ मित्र सत्येन्द्रनाथ बोस लिखते हैं, ''हम लोग उन दिनों जानवर जैसे थे। साहा और मैं एक ही कक्षा में साथ-साथ बैठते थे लेकिन मेघनाद को खाने की मेज पर अलग बैठना पड़ता था क्योंकि नीची जाति के होने के कारण उन्हें सबके साथ खाने की अनुमति नहीं थी।'' (रॉबिन्सन, 2012, पृ. 610) उन्हें साथ में कमरे में रहने भी नहीं दिया जाता था। विरोध स्वरूप कई छात्रों के साथ मेघनाद ने छात्रावास छोड़ दिया और बाहर दयनीय आर्थिक हालत में भी वे किराये पर चले गये थे। खर्च कम पड़ने पर वे बच्चों को प्राइवेट ट्यूशन दिया करते थे। एस.एन. घोषाल लिखते हैं, ''सरस्वती के वरद पुत्र' को हिन्दू छात्रावास में 'अंजली' अर्पित करने से भी रोक दिया गया था।'' (घोषाल, 1991, पृ. 33) घोषाल मेघनाद को एक जन्मजात क्रांतिकारी भी कहते हैं। इसी महाविद्यालय में वे पुलिन दास और बाधा जतिन जैसे क्रांतिकारियों के संपर्क में आए और अनुशीलन समिति के सदस्य भी बने। (सुर, 2002, पृ. 90) क्रांतिकारियों के साथ उनके संबंध होने के कारण वित्तीय लोक सेवा की परीक्षा में बैठने पर रोक लगा दी गयी थी। (नाईक, 2017, पृ॰ 35) प्रमोद वी. नाईक आगे लिखते हैं, ''मेघनाद ने जातीय भेदभाव पर अपनी आँखें बंद कर ली थी।'' (नाईक, 2017, पृ॰ 32) लेकिन ऐसा नहीं था, 1917 में जब कलकत्ता विश्वविद्यालय में वे कनिष्ठ शोधछात्र के रूप में कार्यरत थे तो गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त 'कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग' के समक्ष एक शिकायत पत्र लिखकर कहा था कि ''विश्वविद्यालय के छात्रावासों पर कुछ खास संभ्रांत वर्गों

जैसे ब्राह्मण, कायस्थ, वैद्य और नबासक का एकाधिकार है। इसमें दूसरे वर्गों को या तो प्रवेश नहीं दिया जाता है और अगर प्रवेश मिल भी गया तो उन्हें ऐसा रहना होता था, जैसे यह उनका अधिकार नहीं बल्कि उन पर उपकार किया गया हो।'' (रॉबिन्सन, 2012, पृ॰ 610) यह शिकायत पत्र जरूर साहा के जीवन के अनुभवों पर आधारित था। प्रेसीडेंसी महाविद्यालय में अपनी कक्षा में वे द्वितीय स्थान पर थे और उनके मित्र एस. एन. बोस प्रथम। गणित स्नातकोत्तर में उन्होंने पूरे कलकत्ता विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान प्राप्त किया था। इसके बाद एस. एन. बोस और मेघनाद साहा ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में ही अध्यापन का कार्य प्रारंभ किया। आभा सुर लिखती हैं, ''साहा ने शिक्षा, जाति, उच्च जाति, रूढ़िवादिता इत्यादि पर अपने विचार 1916-19 के बीच में बना लिए थे जो उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद के प्रभुत्ववादी विचारधारा से अलग करते थे।'' (सुर, 2002)

कलकत्ता विश्वविद्यालय से उनका अध्यापक, शोधकर्ता तथा वैज्ञानिक रूप में जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। वे स्वयंभू वैज्ञानिक थे क्योंकि कलकत्ता विश्वविद्यालय में उनके विषय पर शोध कराने वाला कोई प्रोफेसर नहीं होने के कारण उन्होंने अपना शोध स्वयं लिखा था। (नाईक, 2017, पृ. 47) कलकत्ता विश्वविद्यालय में शोध में आ रही परेशानियों जैसे, फंड की कमी के कारण, ए. सी. बनर्जी के द्वारा इलाहाबाद बुलाने पर वे फौरन तैयार हो गये और साहा ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर 15 सालों (1923-38) तक कार्य किया। इलाहाबाद का प्रवास काफी उपयोगी साबित हुआ। यहीं इन्होंने 1931 में राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी की स्थापना की थी तथा प्रसिद्ध विज्ञान पत्रिका 'सायंस एंड कल्चर' भी निकाली। परन्तु जाति उनका पीछा छोड़ने का नाम नहीं ले रही थी। ए. सी. बनर्जी लिखते हैं, ''1920 के दशक में जब वे इलाहाबाद आए तो इलाहाबाद का समाज उस समय बहुत रूढ़िवादी था जिसके कारण साहा और उनकी पत्नी को सामाजिक दिक्कतों का सामना करना पड़ा।'' (सुर, 2002, पृ॰ 95-96) उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण, 1927 में मेघनाद को रॉयल सोसाइटी का सदस्य बनाया गया। डेविड अरनॉल्ड लिखते हैं, ''1924 से 1944 के बीच रॉयल सोसाइटी के सदस्य बनने वालों में साहा ही एक मात्र नीची जाति के थे बाकी एस. एस. भटनागर (कायस्थ), बीरबल साहनी (पंजाबी), होमी भाभा (पारसी) तथा सी.वी. रमण और उनके दो भतीजे के. एस. कृष्णन तथा एस. चन्द्रशेखर (तमिल ब्राह्मण) थे।'' (ऑरनाल्ड, 2002, पृ. 193) उनके साथ हुए जातीय भेदभाव का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि साहा के समकालीन बंगाल के सभी विद्वानों को प्रतिष्ठा देने के लिए (जिनमें प्रफुल्ल चंद्र रे, जगदीश बोस, सत्येन्द्रनाथ बोस तथा प्रशांत महालानोविस शामिल थे) 'आचार्य' कह कर बुलाया जाता था परन्तु मेघनाद साहा को शैक्षणिक तथा अन्य सामान्य अवसरों पर संबोधित करते समय केवल 'मिस्टर साहा' कहा जाता था। (चक्रवर्ती, 2012, पृ. 29) आभा सुर जिन्होंने 'डिस्पर्स्ड रेडियन्स : कास्ट, जेन्डर एंड मॉडर्न सांइस इन इंडिया' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी तथा उसमें साहा के साथ हुए जातीय भेदभाव को उजागर करते हुए लिखती हैं, ''साहा जातीय भेदभाव और शोषण के प्रति अंधे नहीं थे। साहा जाति और उपनिवेशवाद दोनों के हाथों प्रताड़ित थे। उन्होंने वेदों के बर्बर सभ्यता पर लेख लिखा था तथा विश्वविद्यालयों में व्याप्त उच्च जातियों के विशेषाधिकारों को उजागर किया था। मध्यकालीन मानसिकता से लड़ने के लिए 1935 में साहा ने 'साइंस एंड कल्चर' नामक शोध पत्रिका छापना आरंभ किया था। वे इसे विश्व प्रसिद्ध विज्ञान की पत्रिका 'नेचर' का भारतीय संस्करण बनाना चाहते थे।'' (सुर, 2002, पृ. 97) 1935 से लेकर 1956 तक उन्होंने इसमें कुल 136 लेख लिखे। (नाईक, 2017, पृ॰ 122) साहा ने पुरातत्त्व, इतिहास, मानविकी और विज्ञान, प्रकृतिवाद, अल्पसंख्यक, कैलेंडर सुधार, भारतीय भाषाओं, युद्ध और अकाल, शरणार्थी पूर्णवास इत्यादि जैसे विषयों पर अनेकों लेख लिखे परन्तु उन्होंने जाति के विषय पर 'साइंस एंड कल्चर' में कुछ नहीं लिखा। परन्तु अनिलबरण रॉय के साथ उनका एक जाति पर विवाद बंगाली मासिक पत्रिका 'भारतवर्ष' (1938/39) में छपा था। (सुर, 2002, पृ. 98) शायद अपनी पत्रिका को जाति जैसे विवादित विषयों से दूर रखना चाहते थे।

1930 के दशक में साहा देश के सबसे प्रभावशाली व्यक्तियों में से एक थे। 1938 में साहा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा गठित 'नेशनल प्लानिंग कमीशन' के सदस्य बनाये गये थे। सुर लिखती हैं, ''आजादी के बाद साहा द्वारा दिए गये सुझावों को या तो बदल दिया गया या नकार दिया गया।'' (सुर, 2002, पृ. 88) साहा बचपन से ही बाढ़ की समस्या पर काफी चिंतित थे। 1943 के बंगाल के बाढ़ के कारण जब कलकत्ता पूरे देश से अलग हो गया तो साहा ने इस मुद्दे पर काफी कुछ लिखा। परिणामस्वरूप, जब 'दामोदर घाटी जांच समिति' का गठन हुआ साहा को

इसमें सदस्य मनोनीत किया गया। साहा ने इस समस्या का समाधान ''टेनिशी वैली अथॉरिटी'' (अमेरिका) को आधार बनाकर दामोदर नदी पर बाँध बनाने का सुझाव दिया। अंबेडकर भी दामोदर घाटी परियोजना से जुड़े थे। डॉ. अंबेडकर उस समय वायसराय के कैबिनेट में 'पॉवर एंड वर्क' विभाग देखते थे। साहा ने इस मुद्दे पर डॉ. अंबेडकर से भी चर्चा की थी। (नाईक, 2017, पृ. 128)

1940 का दशक साहा के लिए अच्छा नहीं था। 1946 में जैसे ही कांग्रेस सत्ता में आई सी. वी. रमण, भटनागर, होमी भाभा तथा कृष्णन, नेहरू जी के करीब आ गये थे। साहा इन वैज्ञानिकों पर कांग्रेस से दूर रहने का भी आरोप लगाते थे। आभा सुर का मानना है कि ''इन वैज्ञानिकों पर लगाया गया आरोप केवल निम्न स्तर का, ईर्ष्या अथवा व्यक्तिगत शत्रुता का नहीं था, बल्कि इसे एक राजनीति, विचारधारा, जाति और जातीय विशेषाधिकार के संदर्भ में देखा जाना चाहिए।'' (सुर, 2002, पृ. 88) जैसे-जैसे दूसरे वैज्ञानिक सत्ता के करीब आते गये और साहा दूर होते गए। साहा सरकार के प्रबल विरोधी बनकर उभरे। यह साहा के व्यक्तित्व का एक और बड़ा मजबूत पहलू था। साहा ने सरकारी नीतियों का विरोध करना शुरू किया। आजादी के बाद सभी महत्त्वपूर्ण संस्थानों पर उच्च जाति के वैज्ञानिकों का कब्जा हो चुका था इसके बावजूद वे राष्ट्रवाद और समाजवाद से कोसों दूर थे। भाभा को नाभिकीय ऊर्जा आयोग का अध्यक्ष बनाया गया था जो साहा से 18 वर्ष छोटे थे। इस तरह साहा को हाशिये पर धकेल दिया गया था। (सुर, 2002, पृ॰ 105)

साहा हार मानने वालों में से नहीं थे। साहा ने संसद में जाकर अपनी आवाज बुलंद करने की सोची और 1932 में उत्तर-पश्चिम कलकत्ता संसदीय क्षेत्र से कांग्रेस के उम्मीदवार को भारी मतों से हराकर संसद में प्रवेश किया। संसद के तल से भी सरकार की नीतियों का विरोध किया। साहा नाभिकीय ऊर्जा आयोग बनाने के खिलाफ थे। वे चाहते थे कि नाभिकीय ऊर्जा का शांतिपूर्ण उपयोग हो और इसके लिए नाभिकीय ऊर्जा विश्वविद्यालयों में पढ़ाई और शोध किया जाए। संसद में उन्होंने इस विषय पर 10 मई, 1954 की वाद-विवाद भी प्रारंभ कर दिया था। (नाईक, 2017, पृ. 176) उनके विरोधों के बावजूद, नेहरू ने उन्हें योजना आयोग का सदस्य भी बनाया था। 1956 में योजना आयोग के रास्ते में ही हृदय आघात के कारण इस महान वैज्ञानिक की मृत्यु हुई।

मेघनाद साहा के जीवन-दर्शन पर जाति और उनके साथ हुए जातीय भेदभाव का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। जाति व्यवस्था के विरुद्ध उनका संघर्ष उनकी सफलता का प्रमुख कारण भी बना। अन्य दलित समाज-सुधारकों की भाँति इनका जीवन-दर्शन भी समतामूलक था। यद्यपि अंबेडकर जैसे न तो इन्होंने जाति के विनाश पर पुस्तक लिखी न ही कोई आंदोलन चलाया। उन्होंने विज्ञान को ही हथियार बनाकर जाति के विरुद्ध इस्तेमाल किया। वे विज्ञान के माध्यम से ही समानता का दर्शन देते हैं। उनका मानना है, जैसे सूरज का विकरण किसी के साथ भेदभाव नहीं करता है, वैसे ही मनुष्य को किसी के साथ भेदभाव नहीं करना चाहिए। साहा का सामाजिक न्याय उनकी वैज्ञानिकता से प्रभावित था। वे विज्ञान और प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल देशहित में करने के पक्षधर थे। वे मानवता और देश की समस्याओं का समाधान विज्ञान के द्वारा करना चाहते थे। अंबेडकर की भाँति साहा भी गाँवों की तरफ लौटने तथा परंपरागत ग्रामोद्योग के पक्ष में नहीं थे। औद्योगिकीकरण में वे भारत की समस्याओं का समाधान देखते हैं। (सुर, 2002, पृ॰ 89)

संदर्भ ग्रंथ

1. प्रमोद वी. नायक, 'मेघनाद साहा : हिज लाइफ इन साइंस एण्ड पॉलिटिक्स', स्प्रिंगर, 2017.
2. आभा सुर, साइंटिज़्म एण्ड सोशल जस्टिस : मेघनाद साहा' क्रिटिक ऑफ स्टेट ऑफ साइंस इन इंडिया, इन हिस्टोरिकल स्टडीज इन द फिजिकल एण्ड बायोलोजिकल-साइंसेस, वोल्यूम 33, नं. 1 (2002), पृ. 88-105.
3. पार्थ चक्रवर्ती, सोशली एम्बेडेड हिस्ट्री, इकोनोमी एण्ड पॉलिटिकल वीकली, वोल्यूम 47, नं. 43 (अक्टूबर 2012), पृ. 29-32.
4. डेविड आर्नोल्ड, 'द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया', वोल्यूम 3, पार्ट-5, साइंस, टेक्नोलॉजी एण्ड मेडिसिन इन कोलोनियल इंडिया, सीयूपी, 2002.
5. एण्ड्रू रोबिन्सन, रिव्यू ऑफ बुक डिस्पर्स्ड रेडियंस : कास्ट, जेण्डर एण्ड मॉडर्न साइंस इन इंडिया, बाई आभा सुर, इन जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, वोल्यूम 22, नं. 3/4 (जुलाई-अक्टूबर 2012), पृ. 608-610.
6. एस. एन. घोषाल, मेघनाद साहा–ए बॉर्न रिवोल्यूशनरी, इन सुबोध चन्द्र सेनगुप्ता (संपा.) प्रेसीडेंसी एलूमनी एसोसिएशन ऑटम्न एनुअल, वोल्यूम XX, 175वाँ एनीवर्सरी नम्बर, 1991-92.

प्रेम कुमार
इतिहास विभाग
मोतीलाल नेहरू विश्वविद्यालय, सांध्य
दिल्ली विश्वविद्यालय

धर्मांतरण के अंतर्द्वन्द्व, संघर्ष और 'सनातन'

(शरण कुमार लिंबाले के उपन्यास ''सनातन'' पर कुछ वैचारिक बिंदु)

—डॉ. टेकचन्द

मैं कहता हूँ अगर विधाता नर को मुट्ठी में भरकर
कहीं छींट दे ब्रह्मलोक से ही भूमंडल पर।
तो भी विविध जातियों में ही मनुज यहाँ आ सकता है
नीचे हैं क्यारियाँ बनी तो बीज कहाँ जा सकता है।

''मुसलमानों की वजह से अछूतों के लिए धर्मांतरण की राह खुल गई थी। मात्र अछूत ही नहीं ऊँची जाति वालों में से भी कइयों ने धर्मांतरण किया था। ऊँची जाति वालों को अछूतों का किया धर्मांतरण चुभ रहा था क्योंकि इससे वे धाक किस पर जताते और धाक जमाने की परंपरा का क्या होता? यही उनका दुःख था। अंग्रेजों के कारण अछूतों के लिए धर्मांतरण की एक और राह खुल गई थी। भीमनाक बौखलाया था। अछूतों की बेबसी बाँध तोड़कर बाहर निकलना चाहती थी। अछूतों के सपनों में बाहर आने का शायद यही सुनहरा पल था। भीमनाथ सिद्धनाथ महादेव अस्ति की ओर जा रहे थे लेकिन न तो उनके हाथ में झुनझुने वाली लाठी थी न ही उन्हें अपनी परछाईं का डर था। अंबरनाक लेकिन अपनी परछाईं संभालते हुए महार बस्ती जा रहा था।''

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर भारतीय समाज की जाति-व्यवस्था का जैसे रहस्य सूत्र देते हैं। जातियाँ (क्यारियां) तो नीचे ही बनी/बनाई हुई हैं। वह ईश्वर अथवा प्रकृति की बनाई या दी गई व्यवस्था नहीं है। कोई जैविक पहचान नहीं है। वर्चस्वशाली, सत्ताधारी वर्ग ने धर्म और शास्त्रों, दमन व शोषण के फावड़ों, कुदालों से इन जातियों/क्यारियों का निर्माण किया है।

जातिगत श्रेणीबद्धता को जन्म से मृत्यु तक अकाट्य बना दिया ताकि बिना कुछ किए, बिना कुछ दिए मुफ्त का श्रम और बने-बनाए श्रमिक मिलते रहें। ऐसे श्रमिक जिन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी सर झुका कर प्रभु वर्ग की सेवा-चाकरी बिना किसी विरोध-प्रतिरोध के अपना धर्म और जीवन का उद्देश्य समझकर करनी है। यह दुनिया की सर्वाधिक अमानवीय

व्यवस्था थी जिसे उच्च वर्ग दैवीय स्वरूप देकर आज तक चलाए हुए है।

शासक जातियों में शासक ही जन्मेगा और दास जातियों में दास ही पैदा होंगे जो आज तक जारी है। इस प्रक्रिया से हजारों साल तक मुट्ठी भर लोग विशाल जनसमूह का दैहिक, मानसिक, आर्थिक शोषण करते रहे। शोषण, अपमान, हिंसा को एक नैतिक पूज्य परंपरा बना दिया। जो इसका पालन न करे उसके लिए स्पष्ट रूप से 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का ब्रह्म वाक्य भी दिया गया।

यह पूज्य परंपरा और शोषण चक्र टूटते हैं जब हम अन्य समाजों, संस्कृतियों व सभ्यताओं के संपर्क में आते हैं। ज्ञान-विज्ञान सम्मत एक तार्किक प्रणाली से हम सोचते हैं और पाते हैं कि धर्म कोई ईश्वर प्रदत्त वस्तु नहीं है। मनुष्य ने अपनी जरूरतों-सुविधाओं के मुताबिक इसका निर्माण किया है, रचा है। अपनी जरूरत और सुविधा के मुताबिक इसे छोड़ा जा सकता है, बदला जा सकता है। आस्था का आवरण बुद्धि से हटता है तो पता लगता है कि ईश्वर भी ईश्वर प्रदत्त नहीं है। यह भी मनुष्य द्वारा निर्मित है। मनुष्य द्वारा अनुपालित और मनुष्य द्वारा ही रक्षित है। तब धर्म के साथ-साथ ईश्वर का चुनाव, स्वीकार, बहिष्कार करना संभव जान पड़ा।

उपर्युक्त कथन में धर्मांतरण की जो बात कही गई है उसके आधार में यही विचार है। धर्मांतरण अपने प्रारंभिक रूप से ही उच्च वर्ग और जातियों के लिए आक्रोश का विषय रहा है। जब दलित, आदिवासी धर्मांतरण करता है तो प्रभु वर्ग उसे रोकना चाहता है, रोकता है। कारण, धर्म का उत्थान या उन्नति नहीं बल्कि अपना आधार बचाने की कवायद रहती है। जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण में दिया गया है। दूसरा कारण, निःशुल्क/मुफ्त का श्रम खिसक जाने की भी चिंता रहती है।

हजारों वर्षों से केवल जूठन, उतरन, प्रथा अथवा बेगार के नाम पर एक बड़े जनसमुदाय के श्रम का दोहन किया जाता रहा है। इसी मुफ्त श्रम के कारण शासक वर्ग ने भी जाति के मामले में दखल नहीं दिया। हिंदू शासक तो स्वाभाविक रूप से वर्ण-व्यवस्था को मानते थे। पुरोहित के आशीर्वाद और राजतिलक के बाद ही शासक राजा कहलाता था। पुरोहित के अनुमोदन के बाद ही प्रजा उसे ईश्वर सदृश स्वीकार करती थी। इसलिए वर्ण धर्म का वह सख्ती से पालन करते और करवाते थे। जब यहाँ मुस्लिम शासक आए तो मुफ्त श्रम का यह अधिशेष ही था जिसके कारण मुस्लिम शासकों ने हिंदुओं की निजी परंपराओं और संस्कृति के नाम पर इसे जारी रहने दिया।

इस अधिशेष अर्थात् श्रम के मूल्य पर सुप्रसिद्ध इतिहासकार इरफान हबीब लिखते हैं–"समूचे मध्यकालीन इस्लामी साहित्य में जाति-व्यवस्था छुआछूत के सिद्धांत तथा अछूतों के अत्याचारों के विषय में आलोचना का कोई शब्द नहीं मिलता। जबकि यह मध्यकालीन हिंदू धर्म की एक विशेष पहचान थी। चूँकि, जाति-व्यवस्था ने श्रमिक तथा कारीगरों के रूप में काम करने वाले निम्न तथा भृत्य जातियों के भरण-पोषण पर होने वाले व्यय तथा मजदूरी को कम किया था। अतः, इसके चलते अधिशेष में बढ़ोतरी हुई और अधिशेष राजस्व का स्रोत थी। अतः किसी भी शासक वर्ग की रुचि चाहे उसकी धार्मिक आस्था जो भी रही हो, जाति-व्यवस्था से टकराने में नहीं थी। भृत्य जातियों को न केवल उनके स्थान पर ही रहने के लिए बाध्य किया जाता था, बल्कि वे उस परंपरागत छूट की माँग भी नहीं कर सकते थे जो उनके भरण-पोषण के लिए आवश्यक थी। फिर भी जाति-व्यवस्था के संरक्षण और सुरक्षा के साथ ही मुस्लिम समुदायों के विस्तार की प्रक्रिया भी जुड़ी हुई थी।"

जाति-व्यवस्था के नाम पर चल रहे श्रम के दोहन आर्थिक, दैहिक शोषण पर चिंतन शुरू होता है जब यहाँ यूरोपीयंस के साथ ईसाई मिशनरी आते हैं। वे दलित जातियों की मेहनत, कर्तव्यनिष्ठा और पराक्रम को देखकर उन्हें न केवल शिक्षित करते हैं, बल्कि उन्हें शास्त्र और शस्त्र भी थमाते हैं। जिन्हें विद्या और शास्त्र छूने पर भी कड़े दंड का प्रावधान शास्त्रों में था, उनको मानवीय सम्मान मिला। स्पष्ट हो गया कि अपना धर्म वही जो मानवीय गरिमा, सम्मान, सुरक्षा और प्राकृतिक संसाधनों में हमारी हिस्सेदारी सुनिश्चित करें।

दलितों, आदिवासियों ने इस धर्म का सम्मान किया। यह धर्म उनको इंसान मानता था। पढ़ने का अवसर और संपत्ति रखने का अधिकार देता था। सरकारी नौकरियों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करता था। परंपरा के नाम पर उनके समाज पर थोप दी गई रूढ़ियों, बंदिशों को इस धर्म व सरकार ने तोड़ दिया। यह सब सवर्ण समाज को बर्दाश्त नहीं था। शरण कुमार लिंबाले का उपन्यास 'सनातन' इन्हीं द्वंद्वों और संघर्षों की जीवंत प्रस्तुति है। भीमा कोरेगांव का अंग्रेज पेशवा संग्राम इस संघर्ष और द्वंद्व की चरम परिणति है। अंग्रेजों की 800 संख्या की सेना में 500 महार थे और इनके खिलाफ पेशवा के 28,000 सैनिक थे। युगों-युगों, पीढ़ियों के अपमान, शोषण, पीड़ा और प्रतिरोध की यहाँ सीधी टक्कर थी। 1 जनवरी, 1818 को पूरा दिन रात चले इस युद्ध में महार जीते थे। यह इतिहास सामान्य जन की जानकारी में बहुत कम है। इसी इतिहास की

साहित्यिक प्रस्तुति उपन्यास के रूप में शरणकुमार लिंबाले ने की है।

सनातन की कथा महारों की बस्ती से शुरू होती है और सनातन धर्म के ईसाइयत में धर्मांतरण और संघर्ष से आगे बढ़ती है। दलित और आदिवासी ईसाई बन कर दुनिया के श्रेष्ठ धर्म में शामिल हो जाते हैं परंतु उनकी दलित और आदिवासी पहचान फिर भी नहीं मिटती। 216 पृष्ठों का आधा उपन्यास तो इस शोषण से युद्ध तक चलता है और बाकी आधा अंग्रेजों, ईसाइयों द्वारा दलितों आदिवासियों के जीवन को बेहतर बनाने और धर्मांतरण की कथा कहता है।

महार सेना में भर्ती सिदनाक महार जब फिलिप बनकर अरसे बाद वापस लौटता है तो लोग पहचान ही नहीं पाए। ''फिलिप अतीत के बारे में सोच रहा था। 'मैं गाँव न छोड़ता तो? वहीं गाँव की जूठन खाकर जीता! अपमान, उपेक्षा, यातनाएँ झेलता रहता। इन बूढ़े-कंकालों में आज बैठा होता। दुनिया कहाँ देखने को मिलती? ऐसे ही मर-खप गया होता। यह गाँव मेरी किस्मत की कब्र है। गाँव पराया लग रहा था। फिलिप अतीत में गिरता-सँभलता घूम रहा था। भेड़ों के जत्थे जैसी यादें चली आ रही थीं। विरु गड़रिया मिला। बूढ़ा हो गया था। उसने पूछताछ की–

'कौन तू?'
'मैं फिलिप बुश।'
'अजीब नाम क्यों?'
'मैं वही सिदनाक महार!'
'समझा, तूने धर्म बदला न?'
'ख्रिश्चन बना हूं।'
'ख्रिश्चन बनने पर पैसे मिलते हैं?'
'नहीं।'
'फिर क्या फायदा?'
'इंसानियत मिलती है।'
'सच है तेरा। हमने तुझे पैरों की जूती समझा!
तुम सब धर्म छोड़ दो!'
'आने वाले समय में यह भी होगा!'
'अच्छा होगा–हिंदू धर्म की गंदगी हट जायेगी!''

इसी इंसानियत की दृष्टि और प्राप्ति दलितों में चेतना जाग्रत करती है। इसी कारण ईसाई मिशनरियों का विरोध सनातनी हिंदू कर रहे थे, कर रहे हैं। सनातन का कथानक 1857 के विद्रोह को कवर करता है और आगे बढ़ते हुए हिंदू सनातन वैदिक-अवैदिक, बहुजन विचार तक होते हुए 'फिर एक बार प्रभु रामचंद्र को गद्दी पर बिठाना है' के विचार तक पहुँचता है।

मूल मराठी में लिखे इस उपन्यास का हिन्दी अनुवाद पद्मजा घोरपडे ने किया है। कहीं-कहीं तारतम्यता टूटती है, मगर विमर्श और दलित साहित्य के पाठक अध्येता फिर-फिर जुड़ जाते हैं। क्योंकि संवेदना का तार लगातार जुड़ा रहता है। भाषा प्रभावशाली है और कई जगह बड़ी मौलिक व्यंजनाएँ उभर कर आती हैं।

''आसमान सितारों से भरा था। तारे चमक रहे थे। चाँद उग आया था। शीतल हवा बह रही थी। सफेद बादल दौड़ रहे थे। एक बादल कुत्ते के जैसा तो दूसरा गधे की तरह। बादलों की कतार मादा सूअर के पीछे चलते उसके बच्चों की कतार जैसी। चाँदनी की खटिया पाँव खिसकी-सी! चंपी कुतिया हड्डियां चूस रही थी। अंबरनाक-धोंडनाक में खर्राटे भरने की होड़ लगी हुई!''

इस तरह के अनेक स्थल हैं जहाँ शरण कुमार लिंबाले ने मौलिक व्यंजनाओं को आवेश और आवेग के साथ वैचारिक संबल दिया है। अंत तक उपन्यास मार्मिक बन पड़ा है। इसी उपन्यास पर शरण कुमार लिंबाले को के. के. बिड़ला फाउंडेशन का 2020 का 'सरस्वती पुरस्कार' मिला है। पुरस्कार उपन्यास की सफलता व सार्थकता को प्रमाणित करता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. शरणकुमार लिम्बाले, 'सनातन', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2020, मूल्य 299 रुपये।
2. 'अल्किसांद्र इसाउलोव', अनुवादक, प्रोमिला, पैराबल इंटर-नेशनल, नई दिल्ली, संस्करण 2020, मूल्य 350 रुपये।

डॉ. टेकचन्द
सहायक प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, स्वामी श्रद्धानंद महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, अलीपुर, दिल्ली
फोन नः 9650407519

विरल अनुभवों की सूक्ष्म ज्यामिति का काव्य संसार

—डॉ. मुकेश कुमार मिरोठा

असंग घोष अपने पहले काव्य-संग्रह 'खामोश नहीं हूँ मैं' से ही दलित कविता में उपस्थिति दर्ज कराने में सफल होते हैं। अब तक के समस्त प्रकाशित काव्य-संग्रह उनके अनुभवों की दास्तान सामने रखते हैं। 'खामोश नहीं हूँ मैं' उनकी दृढ़ आवाज को दर्शाता है तो 'हम गवाही देंगे' काव्य-संग्रह समय की अदालत में उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता को स्पष्ट करता है। 'समय को इतिहास लिखने दो' काव्य संकलन स्वयं द्वारा नवीन इतिहास-लेखन का मार्ग प्रशस्त करता है। इस कार्य में आने वाले व्यवधानों को 'हम ही हटायेंगे कोहरा' काव्य-संग्रह उल्लेखित, संकेतित करता है। अपने काव्य संग्रह 'ईश्वर की मौत' में समुदाय हित, सम्मान और समता के लिए 'ईश्वर की मौत' की बात करते हैं। उनका नवीनतम काव्य-संग्रह 'अब मैं साँस ले रहा हूँ' व्यवस्था परिवर्तन का परिचायक है। अपनी धरती, अपने लोग, ससम्मान, वैचारिकी के अन्तर्जाल से मुक्त होकर श्वास ले सकें। कवि की यह उद्देश्यात्मक भावना समानता के सिद्धान्तों के अनुकूल है। वे बजबजाती दुनिया में आत्मसम्मान, आत्मसंघर्ष की बात करते हैं। यही तथ्य उनकी व्यष्टि में समष्टि भावना का सूचक भी है। उनके सभी काव्य-संग्रह मनुष्यता के विकसित राग की बात करते हैं। उनके यहाँ पीड़ा का रुदन है वो संयमित बेशक है लेकिन भाव और अर्थव्याप्ति में सर्वश्रेष्ठ है। वे अपनी कविताओं में इतिहास के स्याह पन्नों से निकलते उजास और उसकी प्राप्ति के किए सतत संघर्ष की बात करते हैं। वे वर्तमान वक्त की हाशियाकृत व्यवस्था की व्याख्या करते हैं। इसमें उनकी भाषा सहायक होती है। कविता की प्रभावशाली और जीवंत दुनिया उनके उठाए सवालों से दो-चार होती है और सशक्त होकर साहित्य में नए तेवर प्रस्तुत करने लगती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि असंग घोष केवल कवि मात्र नहीं हैं। उनके पास वैचारिकी की समझ, समृद्ध ज्ञान भण्डार और इतिहास का विशद अध्ययन भी है।

असंग घोष की कविता क्रान्तिधर्मी कविता है। परम्परा, धर्म के तमाम प्रतिमानों को नकारता कवि विद्रोह, विरोध की बात करता है। उसकी नजर में एक वर्ग विशेष की कुटिलता के कारण ईश्वर केन्द्रबिन्दु बना है, जिसकी आड़ में सभी दुष्कृत्य मान्य हैं। कवि ईश्वर की मौत की बात करता हुआ लिखता है, ''तुम्हारे हाथों प्राणप्रतिष्ठा पा, पुजता हुआ, वह

क्यों भकोसता है, छप्पन भोग! जबकि करोड़ों को नसीब नहीं, एक जून की रोटी भी, यह भी उस पेटू को दिखाई नहीं देता,

अरे वह तो
कभी का मर गया है।

यहाँ कवि भूख और भाषा के अटूट रिश्ते को भी पूरी शिद्दत से उकेरते हैं। ईश्वर के प्रति अपना प्रतिरोध दर्ज करवाते वक्त यह भी बताते चलते हैं कि वास्तविक दोषी कौन है? प्रताड़ना, अत्याचार की भयावहता के मध्य अपने प्रतिरोध को कवि खोना नहीं चाहता।

किन्तु याद रखो, मैं डर कर तुम्हारे विरुद्ध अपना प्रतिरोध कभी खत्म नहीं होने दूँगा।

यही प्रतिरोध
ताकत है मेरी।

प्रतिरोध रूपी ताकत से वह कुत्सित मानसिकता और कुटिल लोगों के लिए कब्र खोदने की बात करता है। इसमें उसके हथियार लाल क्रान्ति की याद दिलाते हैं :

मेरे हाथ में गेती, कुदाल और फावड़ा है
तुम्हारी कब्र मुझे ही खोदनी है।
इसलिए अपने सारे औजार लिए आता ही रहूँगा
तुम्हारे सपनों में लगातार तुम्हारी कब्र खोदने।

असंग घोष की निगाह उस पीड़ा को प्रमुखता देती है जो मेहनत के बावजूद आधारभूत आवश्यकताओं के लिए भी तरसा दिया जाता है। उनकी कविताएँ समय, इतिहास, धर्म, राजनीति आदि से ज्वलंत सवाल करती हैं:

गर्भगृह छोड़, सीढ़ियाँ उतर नीचे, जमीन पर आना
अपने हालातों पर करने हैं तुझसे चन्द सवाल!
अंत में यह भी पूछना है आखिर
मुफ्त की खाई-कमाई का स्वाद कैसा होता है? और
हमारी छोड़, तू अपनी सोच
क्या मरी गाय का चमड़ा उतारेगा?
गाय के चमड़े को पकाएगा।

कवि वास्तविक आजादी की वकालत करते हैं। इसलिए जयपुर की अदालत में लगी हुई 'मनु' की मूर्ति को बाहर करने की माँग करते हैं–

इसलिए हे प्रिय न्यायमूर्तियो
इसे अपने परिसर से बाहर करो! या बताओ
क्या सचमुच तुमने अन्तर्मन से
संविधान की शपथ ली है।

अपने प्रतिरोध को न्याय व्यवस्था के समक्ष उठाती हुई समकालीन दौर की गिनी-चुनी कविताओं में से असंग घोष की कविता रेखांकित करने योग्य है। उनकी इस तरह की कविताओं से समकालीन भारतीय राजनीति से साक्षात्कार करने की उनकी कोशिश दिखती है। उनका समय-बोध, इतिहास-बोध और नवीन वैचारिकी उन्हें विशिष्ट कवि बनाती है। गंभीरता के साथ-साथ उनमें सम्प्रेषणीयता का गुण भी मौजूद है। जीवन की त्रासद स्थितियों के मध्य कवि अधिक चिन्तित नजर आता है। उनकी ज्यादातर कविताएँ मानवीयता, संघर्ष, प्रतिरोध और मानवीय एषणा के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न जीवन-संघर्ष का यथार्थ रूप हैं। इनमें प्रतिरोध और प्रतिकार की शक्ति भी विद्यमान है और समय से संघर्ष करने में उनके सभी संग्रह सक्षम भी हैं। इसमें कवि की स्पष्टवादिता और सामाजिक विश्लेषण के नवीन आयाम भी शामिल हैं।

उनकी कविताओं के अध्ययनोपरांत कहा जा सकता है कि कवि की सामाजिक चेतना में गहरी पैठ है। उनकी कविताएँ जन-समुदाय से सार्थक संवाद कायम करती हैं। कविताओं में मन की व्यथा और दुविधा गहरी संवेदना के साथ अभिव्यक्त होती है। दलित कविता का परिष्कृत रूप भी इन कविताओं में सहज प्राप्य है। अपने इतिहास और वर्तमान से समय-समाज को सचेत करती कविताएँ सामाजिक संकट का जीवंत दस्तावेज मानी जा सकती है। कवि की चिन्ता समुचित है और युगबोध के अनुरूप भी है। इन कविताओं को पढ़ते वक्त वर्तमान, इतिहास की पुनर्व्याख्या की माँग करता है और व्यवस्था सवालों के कटघरे में है। उम्मीद बस भविष्य से है :

बस एक कोशिश तो करो।
फेंको जोर से पत्थर इस दीवार पर,
ढहाओ दीवार, बढ़ो दीवार के पार
इसे धाराशायी कर, रास्ता खुला हुआ है आगे।

मानवीय संवदेनाओं को मथती, व्याकुल करती, झकझोरती उनकी कविताएँ शोषण और अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध की चेतना जाग्रत करती हैं। समकालीन स्थितियों पर चिन्ता करते हुए वे सनातनी शोषण की परम्परा का खोल हटाकर उसके भेदभावपरक रूप को सामने ले आते हैं। 'दाना माँझी' कविता उनके सामाजिक सरोकारों को बयान करने के लिए पर्याप्त है। एक ग्रामीण व्यक्ति सरकारी उदासीनता और व्यवस्था का शिकार होकर अपनी

मृत पत्नी की लाश अपने कंधों पर ढोने को मजबूर है और हम 'डिजिटल' का राग अलाप रहे हैं।

'संवेदनशून्य निष्ठुर लोग कैमरा खोले शॉट ले रहे हैं
सरकार है
कि बहरी, अन्धी हो चली है।

संवेदना को सामने लाती उनकी कविता इस शोषण की जनक व्यवस्था को भी नकारती है। धार्मिकता का ढोंग उनके यहाँ स्थान च्युत हुआ है। ऐसे मिथकों को कवि कठोर भाषा में दुत्कारता है–

मेरा एक यही सवाल तेरे सारे मिथकों को,
सिरे से नकारता है
तेरी नीयत पर, जी भर थूकता है
आ.....थू।

कवि वर्जनाओं से मुक्ति चाहता है। समानता का पक्षधर है। जातिगत अस्पृश्यता और उसकी पोषक व्यवस्था पर वे तीक्ष्ण चोट करते हैं। आक्रोश उनकी कविताओं का प्रधान स्वर माना जा सकता है। व्यंग्य उसे और मारक बनाता है।

असंग घोष की कविता तमाम प्रतिमानों को सिरे से खारिज तो करती ही है, एक नए वक्त का उदय भी उनमें मिलता है। भाषा और भाव के सौन्दर्यबोधी प्रतिमान उनकी कविता में अस्पृश्य समाज के उत्पीड़न को दर्शाते हैं। वहाँ वायवीय प्रवाह न होकर यथार्थ की कठोर भाव-भूमि है। लोकतंत्र और संविधान प्रदत्त अधिकारों ने तमाम प्रतिगामी शक्तियों को शिकस्त दी है। तंत्र-मंत्र और ज्योतिष जैसे कर्मकाण्डों में उलझे आम व्यक्ति की पीड़ा का मुखर रूप उनकी कविता है। श्रेष्ठता का झूठा दंभ या झूठी शान का त्याग करके 'भड़वी श्रेष्ठता' को जूते पॉलिश की करारी बात करते हैं, ''पन्ना देख, बता दुनिया कहाँ जाएगी तेरे बिना, तू नहीं रहेगा तो भी, वह नहीं थमेगी छोड़ अपनी श्रेष्ठता, आ बराबरी में बैठ, जूता पॉलिश करते हैं।'' कवि अपनी पूरी चेतना के साथ समकालीन चुनौतियों से मुठभेड़ करता है। हताशा, निराशा, अवसाद या संत्रास से भरी दमित व्यक्ति की दुनिया अब सांस ले पा रही है। अन्याय और पाखण्ड को कवि की कविताएँ अपने तरीके से नाप रही हैं। वे जीवनपर्यन्त अमानवीयता के खिलाफ संघर्ष, लड़ाई जारी रखने का एलान करते हैं वो भी अपने ही अन्दाज में, ''हाँ, सचमुच अब मैं डाकू हूँ, उसकी हर चाल पर, उसकी नियत पर, डाल-डाल मैं उसे सरे आम नंगा करूँगा।''

कवि में यह साहस अनायास नहीं है। दबाव आधारित परिस्थितियाँ इसकी जनक हैं और वे उनसे ही जवाब-तलब करना चाहते हैं, जवाब लेना वे जानते भी हैं। समाज में व्याप्त संघर्ष, आक्रोश एवं विद्रोह सदृश कठोर वास्तविकताओं का प्रतिबिम्बन उनके काव्य में हुआ है। समाज के शोषण को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं–''जन्म से ही मजबूत अदृश्य धागों में बँधा, मैं आज तक बधुआ हूँ, और तुम! कहाँ चले गए हो, मुक्तिदाता? मुक्तिदाता से वे चाहते हैं कि मतभेद न रखे। साफ-साफ कहे कि वह आखिर चाहते क्या हैं–''अपनी नियमित पूजा-पाठ, आडम्बरयुक्त आराधना-अर्चन, पाखण्डपूर्ण सेवा-समर्पण, भोग-विलासी जीवन, भेदभाव-दुराचार, छुआछूत वाली वर्ण-व्यवस्था, या कुछ और, तुम जो भी चाहते हो, मनभेद मत रखो।''

समतामूलक समाज के मुक्तिदाता के मन का भेदभाव कवि ने संघर्ष के संगीत और पूजा-पद्धति के ढोंग के मध्य चित्रित कर दिया है। मर्मभेदी विचारों से लैस उनकी कविताएँ अपने समय की प्रहरी भी हैं। मनुष्यता के पद पर सम्मानपूर्वक प्रस्थापित होने के लिए कवि सशक्त प्रतिरोध के बुलन्द स्वर का घोष करता है–''अब समझ गया हूँ तेरी करतूत, अब तू तैयार रह, मैं रौदूँगा, तुझे अब अपने पैरों तले।''

वे निरन्तर लड़ते रहने का जुझारूपन दिखाते हैं। उनकी कविताएँ अम्बेडकारवादी विचारों की प्रतिनिधि हैं। वे आह्वान के कवि हैं। समता, संघर्ष, विरोध उनकी कविताओं के मूल तत्व हैं। इसमें अम्बेडकरवादी चेतना नए भाव शामिल करती है जिनकी प्रस्तुति उनकी कविताओं में विशिष्ट तरीके से हुई है। वे ज्ञान की मशाल लेकर हाशिये के समाज के लोगों के घर और विचारों के अँधेरेपन को दूर करने का महती उद्देश्य लेकर काव्य-रचना कर रहे हैं। व्यवस्था के प्रति आक्रोश इसकी बानगी भर है। ऐसी असमानतापूर्ण व्यवस्था को वे जवाब देना जानते हैं :

समय के साथ इसका, मैं दूँगा माकूल जवाब,
मेरी जगह, पढ़ेंगे मेरे बच्चे,
जरूर।

हीन मानसिकता से इतर कवि संघर्षकामी चेतना सम्पन्न होकर षड्यंत्रों के खात्मे का उद्घोष करता है। उनकी कविताएँ तमाम विसंगतियों पर करारी चोट हैं। उनके शब्द प्रहार से अस्पृश्यता बच नहीं पाती है। वे अपना इतिहास स्वयं लिखने की बात करते हैं :

समय को अपना काम कर लेने दो।
उसे अब हमारा भी,
इतिहास लिखना है।

जाति के जहर के खिलाफ वे एकजुट हो संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं। कवि अपनी कविता-यात्रा में शोषणकारी परम्परा और सुप्त जीवन-बोध के सम्बंधों को व्याख्यायित करता है। उनके यहाँ उदात्त जीवन-रस न होकर विवशता का महाकाव्य मौजूद है। भूमण्डलीकृत व्यवस्था में अब बस अंतर इतना है कि यह महाकाव्य अब शोषित स्वयं लिख रहा है। विचारों के समानांतर वह अपनी दुनिया का निर्माण कर रहा है जिसका मूल आधार समानता पर अवलम्बित है। समकालीन दौर की भयावह सच्चाई और इतिहास का कुत्सित रूप उनके यहाँ उजागर हुआ है। इसके साथ कवि असंग घोष उस शोषित रूप का पर्दाफाश भी करते चलते हैं। जड़ीभूत पतनोन्मुख समसामयिक प्रश्नों से उनकी कविताएँ लगातार टकराती हैं। कवि की दृष्टि एकांगी न होकर समदर्शी है। अनुभव का व्यापक संसार समेटे उनकी कविताएँ आम व्यक्ति की चिन्ता से रू-ब-रू कराती हैं।

शोषण, अन्याय के खिलाफ शोषक वर्ग का विरोध उनके काव्य में विशिष्ट भाषा-शैली का भी द्योतक है। समय की मूर्त सच्चाई और निरंतर शोषित वर्गों की वास्तविक जीवन-स्थितियों को पहचान कर कवि उनकी ही भाषा में उन्हें प्रस्तुत भी करता है। भाषा की कठोरता, शब्दों के व्याकरण में न उलझ कर मर्म को भेदती चली जाती है। वैचारिकता, समाज-चिन्तन और अम्बेडकरवादी वैज्ञानिक समझ से ओत-प्रोत उनकी कविता दुरूह नहीं है, न बोझिल है। वह तो सरल शब्दों में व्यवस्था परिवर्तन की आकांक्षी है। यांत्रिकता से परे है। किताबी किस्म की साहित्यिकता से परे असंग घोष जी की कविताओं में लोक का सहज वर्जन है। देशज मुहावरों और आम जीवन की शोषित परिस्थितियों को वे संवदेनापूर्ण बना देते हैं। कलाबोध की श्रेष्ठता शोषण की मूल जड़ों को उभारने में सहायक नहीं है। अतः वे तीखी एवं सीधी-सीधी बात करते हैं। किताबी कलावाद और सौन्दर्य उनके यहाँ जगह बनाने में असमर्थ हैं। जीवंत संघर्ष परम्परा को वैसे भी इन तथाकथित प्रतिमानों की आवश्यकता नहीं है। वह तो डंके की चोट और सरकण्डे की कलम से भी सच कहने का साहस रखती है। इसलिए कवि की भाषा जन-चेतना की पक्षधर है। वे समकालीन कविता को अपनी विशिष्ट अर्थगर्भित भाषा रखने से एक नया और सार्थक आयाम, रूप देते हैं। उनकी भाषा कवि और समाज के मध्य बनते रिश्ते को समझने के लिए पर्याप्त अवसर देती है। विरल अनुभवों की सूक्ष्म ज्यामिति उनकी काव्य प्रतिभा का दिग्दर्शन कराती है। उनकी कविताएँ पठनीय होने के साथ-साथ जीवन-दर्शन का जीवंत दस्तावेज़ भी हैं। यह कवि की भाषा की ताकत को प्रस्तुत करती हैं। कविता की भाषा कहीं-कहीं गद्यात्मक होने के बावजूद अतिशयोक्ति या आत्मश्लाघा का शिकार नहीं है। बहते नीर की भाँति कवि अपनी सहज वाणी से सबको झकझोरते चला जाता है। कविताएँ उद्देश्य की ओर धवित होती हैं और कवि आपके हृदय की ओर।

विसंगतियों एवं घटनाओं से उपजे हुए आक्रोश का आह्वान उनकी कविता करती है। सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक पहलुओं पर कवि की दृष्टि अन्वेषणात्मक और विश्लेषणात्मक रही है। समता का संपोषण प्रदान करती कविताओं एवं समय, युग का कवि हिमायती है और पक्षधर भी। वह विपरीत स्थितियों एवं असमानता के प्रति असहमति प्रकट करता है तो प्रतिरोध के लिए सदैव उद्यत भी रहता है। जब कविता के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हों, समुदाय के सरोकारों को बेदखली का सामना करना पड़ रहा हो, बाजार का आकर्षण संवेदना को नष्ट कर रहा हो, आत्ममुग्ध और अपने-अपने मठ और गढ़ बने हुए हों, ऐसे में असंग घोष की कविताएँ हिन्दी कविता और समय का संवेदनात्मक यथार्थ, समता और समानता की संकल्पना को मूर्त करने में कृतसंकल्प बना हो। हम सब साहित्य-प्रेमियों के लिए संतोष का विषय तो है ही। समय से प्रत्यक्ष और सीधा संवाद करती इनकी कविताएँ प्रासंगिक और चेतनासम्पन्न दृष्टियुक्त है। अक्षय चेतनामयी ऊर्जा का भण्डार लिए उक्त कविताएँ हिन्दी कविता संसार की अमूल्य निधि समान हैं। उनकी कविताएँ जितनी जीवन्त हैं उनमें जीवटता का उतना पुट विद्यमान भी है। विषम वक्त में उनकी कविताएँ राह दिखाती हैं।

डॉ. मुकेश कुमार मिरोठा
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया
91-9312809766
Email : mmirotha@jmi.ac.in

समकालीनता और हिन्दी साहित्य

–डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष

प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल आदि अवधारणाओं की तुलना में 'समकालीनता' की सुस्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं हो सकी है। वैश्विक स्तर पर प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल के कालगत और प्रवृत्तिगत अंतर्विरोधों और विभेदों के बावजूद इनके बीच विभाजन का ठोस तार्किक प्रयास हुआ है। इन पूर्व दृष्टान्तों को ध्यान में रखते हुए हमें 'समकालीनता' को अमूर्त अवधारणा न मानते हुए उसे परिभाषित और विभाजित करने का प्रयास करना चाहिए। आज के सन्दर्भ में 'समकालीनता' आधुनिक काल का ही अंग है। इसमें आधुनिकता निहित है, पर इसमें कुछ नए भाव-बोध, प्रवृत्तियाँ, चेतना और नए तकनीक शामिल हैं, जो आरंभिक और प्रौढ़ आधुनिकता में नहीं थे। इन्हीं विभेदकारी विशिष्ट प्रवृत्तियों और घटनाओं को हम 'समकालीनता' की विभाजन रेखा मान सकते हैं।

'समकालीन' शब्द का प्रयोग समय और इतिहास को विभाजित और परिवर्तित करने वाली घटनाओं के संदर्भ में भी किया जा सकता है। विश्व, राष्ट्र या जाति के जीवन को रूपांतरित करने वाली प्रभावशाली और नियंत्रणकारी घटनाएँ जो समय या इतिहास को पूर्व या पश्चात् में विभाजित सी करती हैं, उस घटना या घटनाओं को 'समकालीनता' की विभाजन रेखा माना जा सकता है। निःसंदेह रूप से राष्ट्र या जाति को आमूल-चूल ढंग से प्रभावित और नियंत्रित करने वाली महाघटनाएँ न क्षण विशेष में अचानक से घटित होती हैं न क्षण विशेष में प्रभावहीन होती हैं। इसके विपरीत वह एक जटिल सुदीर्घ संश्लिष्ट प्रक्रिया होती है, जिसका विस्तार अतीत और भविष्य में भी होता है।

आधुनिक भारतीय इतिहास में पंद्रह अगस्त, 1947 एक परिवर्तनकारी बिंदु है। 1962 का भारत-चीन युद्ध भी एक अत्यंत प्रभावपूर्ण परिघटना थी। उसके बाद के नक्सलबाड़ी आन्दोलन ने भी राजनीति और साहित्य को प्रभावित किया। फिर आपातकाल के दौर ने भी भारतीय जनमानस और राजनीति को उदीप्त किया। स्मरण होना चाहिए कि भारतीय मनीषा और जीवन को प्रभावित और रूपांतरित करने वाली ये सारी घटनाएँ कुल मिलाकर घरेलू, आन्तरिक या राष्ट्रीय थीं। पर 1985 में अचानक से भारतीय जीवन प्रत्यक्षतः अंतरराष्ट्रीयता से पहले से कहीं बहुत ज्यादा जुड़ जाता है और उससे प्रभावित और नियंत्रित प्रतीत होने लगता है। 1985 के बाद की कुछ घटनाओं ने राष्ट्र, समाज, संस्कृति और विशेषकर साहित्य की प्रवृत्तियों, भावों और उसकी बुनावट में गंभीर परिवर्तन लाया है। सूक्ष्म दृष्टि डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि 1985-90 से पहले जो हमारा

जीवन और चिंतन था, अब वह ठीक वही नहीं है जो पहले था। परिवर्तन तो हमेशा होता रहा है, पर 85-90 के बाद घटित परिवर्तनों की तीव्र गति ने जीवन को विस्मयपूर्ण बना दिया है। 1985 में बिलगेट्स द्वारा संचालित 'विंडो' ने पूरे विश्व के विस्तार, तथ्य और गति को 'चूहा' नियंत्रित 'स्क्रीन' में समेट लिया! अचानक से ज्ञान, तथ्य, सूचना, संपर्क, सम्प्रेषण, सम्बन्ध और गति की अवधारणा हमेशा के लिए रूपांतरित-सी हो गयी। 'जीवन' और 'कम्प्यूटर' पर्याय से हो गए। फिर सोवियत संघ के विघटन के रूप में बीसवीं सदी के इतिहास की सबसे प्रभावशाली और आश्चर्यजनक घटनाओं में से एक परिघटना घटी जिसने पूरे विश्व और विशेषकर हिन्दी-संस्कृति कर्मियों को गंभीरता से प्रभावित किया। अनुपेक्षणीय अंतर्विरोधों के बाजवूद कम्प्यूटरीकृत समाज, सोवियत संघ का पतन, उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण को वैश्विक स्तर पर इतिहास या समाज की विभाजक रेखा माना जा सकता है। अंतर्विरोधों के बावजूद, भारतीय सन्दर्भ में भी उपरोक्त कारकों को समकालीनता के विभाजक बिंदु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इन अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के बीच साम्प्रदायिकता, जातिवाद और क्षेत्रवाद के नव स्वरूपों और घटनाओं ने भी हमारे समय को विभाजित कर चेतना को प्रभावित और परिवर्तित किया है।

पर, ये सारी घटनाएँ प्रभाव भर ही हैं, जिसको गणितीय या रासायनिक ढंग से नहीं समझा जाना चाहिए। साहित्य के सन्दर्भ में प्रभाव को आत्मसात करना या उपेक्षित करना लेखक विशेष पर निर्भर करता है। इतिहास या जीवन में होने वाले उथल-पुथल और कविता के बीच का रिश्ता बहुस्तरीय और काफी जटिल होता है। पर उपरोक्त घटनाओं और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का प्रभाव मूर्त संरचनाओं के साथ चेतना पर भी पड़ा है। इसी के समानांतर अज्ञेय ने अनुभूति, चेतना और कालिक निकटता की समानता को समकालीनता की कसौटी मानते हुए कहा है कि "किस अर्थ में वह समकालीन है? क्या मेरी कलानुभूति में वह मेरा साझीदार है? मेरे काल का सहभोक्ता है, क्योंकि तभी तो उसका और मेरा एक ही वर्तमान हो सकता है—तभी तो हम समकालीन हो सकते हैं। क्या उसका भी अतीत और भविष्यत् का परिचय अनुभूति के उसी बिंदु से आरम्भ होता है, जिससे मेरा 'औरा' उतने ही व्यास में फैलता है जितने में मेरा? नहीं तो समकालीनता क्या है?"[1]

हमें स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृति या साहित्य कैलेण्डर नहीं हैं कि साल खत्म हुआ और उसे बदल दिया जाये। ऐसा नहीं है कि 1985 के आते ही पिछला सब कुछ खत्म हो जाये और बिल्कुल नया आदमी, नया साहित्य, नई कलाएँ, नयी प्रवृत्तियाँ साहित्य या संस्कृति में नजर आने लग जाएँ। समकालीन हिन्दी साहित्य की सर्जना प्रवृत्तियों को पिछले तीन-चार दशकों की राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। जैसा कि राजेन्द्र यादव ने नामवर सिंह से कहा था कि बहुसंख्यक वरिष्ठ साहित्यकारों के "सारे संस्कार, अमेरिकन पूँजीवाद का विरोध करते हुए बने हैं, और जब यह मजबूरी दिखाई दे रही है कि उसके सिवा कुछ अपराजित नहीं है तो एक अंधी गली में साहित्यकार अपने आपको पाते हैं।"[2] सोवियत संघ के पतन से उन्हें लगा कि जैसे अचानक उनसे अपने सपनों और आदर्शों का ऐसा सुरक्षित किला छीन लिया गया है कि जिसके अन्दर वे पले-बढ़े थे और जिसमें वे खुद को पूरी तरह से सुरक्षित और मजबूत पाते थे।

कुल मिलाकर साहित्य की ताकत को लेकर एक आशा, विश्वास जो आजादी के दौरान था वह बाद में निरंतर कम हुआ है। इसका एक बड़ा कारण निर्दोष विचारधारा के अभाव का भी है। इसलिए संदेह, शंका और भविष्य जब अनिश्चित हो, ऐसी तमाम चीजों का असर साहित्य पर, साहित्यकारों पर पड़ा है। समकालीन दौर का सबसे बड़ा संकट और संकुचन यह है कि पहले की तुलना में समकालीन साहित्यकार 'सामान्य मनुष्यता' का रहनुमा होने की जगह विशेष धर्म, जाति, राजनीतिक दल, लिंग या क्षेत्र का प्रवक्ता, प्रचारक या कार्यकर्ता प्रतीत होता है। विचारधारात्मक संघर्षों के बावजूद, पूर्व के साहित्य में सामान्य मानव मात्र के प्रति संवेदना लक्षित होती है। समकालीन विमर्श से पहले आम पाठक शायद ही कभी किसी लेखक की जाति, धर्म और राजनीतिक प्रतिबद्धता की चिंता करता था। पर अब 'मनुष्यता' और उसको अभिव्यक्त करने वाले 'शब्द' उपेक्षित प्रतीत होते हैं—अन्वेषण, मूल्यांकन, समीक्षा, स्वीकृति-अस्वीकृति और पुरस्कार के नियामक कारक—जाति, धर्म, लिंग और दलीय प्रतिबद्धता प्रतीत हो रहें हैं।

समकालीन साहित्यकार संस्कारवश 'पूँजीवाद' का समर्थन नहीं कर सकते और मजबूरी है कि समर्थन किये बिना भविष्य नहीं दिखाई देता। अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों मोर्चों पर वामपंथ की बदहाली और पतन के कारण विचारधारात्मक विकल्पहीनता की कसमकश ने रचनाकारों को सोचने पर मजबूर किया है। सच्चाई है कि विगत दशकों की रेखांकित करने योग्य कविताएँ विफलता के पीड़ा-बोध से ग्रस्त कविताएँ हैं (जहाँ-तहां ऊपरी उत्साह या संघर्ष के बावजूद)। कविता की मनःस्थिति पराजय और निराशा की है। राजेश जोशी ने संकेत किया है कि 1985 के बाद की "कविताओं की युयुत्सा और उसकी उदासी में फर्क आया है। हिंसा और आतंक इस दौर की कविता की प्रमुख चिंता है। संभवतः हिन्दी में हिंसा और आतंक को लेकर इतनी कविताएँ पहले कभी नहीं लिखी गईं।"[3] कोई

केन्द्रीय नेतृत्व या व्यापक जनांदोलन नहीं है। कवि उदास प्रतीत होते हैं कि वर्तमान सभ्यता के मूल्य और तकनीक हर पवित्र, हर संवेदनशील चीज की संवेदनशीलता और अद्वितीयता अर्थात् सर्जना को खत्म कर रहे हैं। लगता है कि हर चीज हाथ से फिसल रही है। सब चीजें खत्म हो रही हैं। आपसी सम्बन्ध खत्म हो रहे हैं–मनुष्य से भी, प्रकृति से भी और अंततः जीवन से भी। निराशा का दूसरा पहलू यह है–"हिंसा या आतंक के प्रति कविता वास्तविक मनोभावों और उसके आवेगों को प्रकट कर सकने के बजाय एक गढ़ी हुई प्रतिक्रिया बनने लगती है। प्रतिरोध की एक औपचारिकता भर। कभी-कभी यह महज एक फैशन या चालू मुहावरा नजर आती है।"[4]

काव्यगत निराशा के इस परिदृश्य का दूसरा दुखांत पहलू यह है कि समग्र रूप से जो सारा परिदृश्य है उसमें साहित्य खुद हाशिये पर है। साहित्य नहीं, सारी कलाएँ (सिनेमा को छोड़कर)। बाजारवाद के दौर में नया मीडिया इतना शक्तिशाली हो गया है कि जिसको सर्जनात्मक साहित्य कहते हैं वह मूल्यवान होते हुए भी उपेक्षित हो रहा है। सारी विफलताओं के बावजूद कविता ने कहीं-न-कहीं उन चीजों पर भी वहाँ, जहाँ वे ठीक हुई हैं- अपनी राय रखी है। बहुत निराशाजनक स्थितियों में भी उत्साह को बचाए रखने की कोशिश हो रही है। सकारात्मक पहलू यह है कि ''आज की कविता के पास विषयों का कोई संकट नहीं है उसमें एक साथ इतने अधिक चरित्र, घटनाएँ और दृश्य हैं जो संभवतः पहले कभी नहीं थे।''[5] वरिष्ठ कवियों के विपरीत युवा कवियों की कविता उतनी उदास और विषणन नहीं है। कविता 'विराट थीम्स' और विषयों से हटकर उन चीजों की ओर भी जाने लगी है जो पहले इतनी महसूस नहीं होती थीं।

युवा पीढ़ी की कविता में आस्था के जीवित रहने का मूल कारण शायद यह है कि इस पीढ़ी के लिए 'साम्यवाद का अंत' सम्भवतः 'दुनियाँ का अंत' नहीं है। वैसे भी 'साम्यवाद' इस युवा पीढ़ी के लिए जीवंत अनुभव न होकर 'इतिहास' ही है, अतः उसके पतन से मानवता के भविष्य के प्रति इनकी आस्था विचलित नहीं हुई, तो यह स्वाभाविक ही है। पर युवा कविता 'विराट थीम्स' के अभाव में 'डे टू डे लाइफ' प्रतीत हती है, मानो 'रोज एक दिन या दृश्य या बिम्ब को दूसरे दिन दृश्य या बिम्ब से जोड़ दिया गया है।' विडम्बना है कि कविता "संक्रमणकालीन समाज और समय का 'पोट्रेट' तैयार नहीं कर पा रही है।"[6] उपलब्धियों के बावजूद युवा सर्जना संकुचित प्रतीत हो रही है। कुल मिलकर युवा सर्जना कविता-कहानी केन्द्रित प्रतीत होती है। उपन्यास अब कहानी के समक्ष उपेक्षित प्रतीत हो रहा है। युवा लेखन में संवेदनशीलता तो महसूस हो रही है, पर वैचारिकता का अभाव प्रत्यक्ष महसूस हो रहा है। शायद इसी कारण निबंध विधा अब अछूती होती जा रही है। गहन अध्ययन, धैर्य और वैचारिकता के अभाव में आलोचना अब पुस्तक समीक्षा में अवमूल्यित होती जा रही है। नामवर सिंह की चिंता सही प्रतीत होती है कि "रचना कहाँ से कहाँ तक पहुँच गयी, उसके शिल्प या रूप विधान और अंतर्वस्तु में क्रान्तिकारियाँ, तब्दीलियाँ आ गईं, कितनी चुनौती देने वाली रचनाएँ इस बीच सामने आई हैं, उसकी तुलना में आलोचना निर्जीव प्रतीत होती है।"[7] यह भी चिंताजनक है कि परम्परा, लोक और समाज से प्रत्यक्ष सम्बन्धा के अभाव में युवा-लेखन नाटकों से विमुख प्रतीत हो रहा है। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान और उसके उपरांत हिन्दी को लेकर जो संस्थाएँ बनी थीं, चाहे वह हिन्दी साहित्य सम्मलेन हो, नागरी प्रचारिणी सभा या दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिए बनीं संस्थाएं हों, वे मृतप्राय हैं। यही नहीं, 'प्रलेस', 'जलेस' और 'परिमल' जैसी सामानांतर संस्थाएं भी इस दौर में क्षरित हुई हैं। दुःखद है कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार को लेकर जो उत्साह 1960-70 के आस-पास था, वह निरंतर कम होता जा रहा है। नव मीडिया और सोशल मीडिया ने लोकप्रिय और विमर्शवादी साहित्य को अतिरिक्त महत्त्व दिया है। पर महान साहित्य की प्रासंगिकता न कम हुई है न होगी। लोकप्रियता उत्कृष्ट साहित्य का कोई अनिवार्य मापदंड नहीं है। श्रेष्ठ साहित्य या कला सर्वसुलभ हो, यह भी जरूरी नहीं है। इसलिए जिस 'विमर्श' और 'पॉपुलर-कल्चर' की बात की जा रही है वह बहुत टिकने वाली नहीं है। अभी हम एक संक्रमण काल से गुजर रहे हैं । जल्द ही लोग श्रेष्ठ साहित्य और कला की तरफ पुनः मुड़ेंगे। महान कलाकृतियाँ कल भी 'पॉपुलर-कल्चर' के सामने हिमालय- सी खड़ी रहेंगी और हमें अधूरेपन का अहसास कराती रहेंगी।

सन्दर्भ

1. 'अज्ञेय रचनावली', संपा. रमेशचंद्र शाह, खंड-9, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण 2014, पृ॰ 173
2. 'नामवर सिंह, 'साथ-साथ', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ॰ 81
3. राजेश जोशी, 'समकालीनता और साहित्य', राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2015, पृ॰ 36
4. वही, पृ॰ 39
5. वही, पृ॰ 39
6. वही, पृ॰ 36
7. नामवर सिंह, 'बात बात में बात', वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 182

डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष

सहायक प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई-दिल्ली

समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श

–डॉ. जयसिंह मीना
–डॉ. केदार प्रसाद मीना

आदिवासी विमर्श की शुरूआत समाज में अन्य महत्त्वपूर्ण विमर्शों के साथ हुई। स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, मीडिया-विमर्श, किसान-विमर्श आदि सभी विमर्श समाज एवं व्यवस्था परिवर्तन के आधार-विमर्श माने जा सकते हैं, क्योंकि ऐसे विमर्शों से नई विचार धारा की शुरुआत होती है और समाज और व्यवस्था में व्याप्त बुराइयों का अन्त व अच्छाइयों का प्रसार होता है। बहुत सी भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे विमर्शों का समावेश किया जा रहा है। शुरुआती दौर में इनके भिन्न रूप दिखाई देते रहे हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं में बात चाहे शब्दों या रेखाओं की हो, कथ्य की हो या शिल्प की, भाषा की हो या शैली की, शोर या शान्ति की हो–सभी दृष्टियों की हो रही हैं। अन्य भाषा के साथ हिन्दी भाषा की ये पत्रिकाएँ ऐसे विमर्शों के लिए मजबूती से जमी हुई दिखाई देती हैं। भले ही उनकी रेखाएँ और रंग वैश्विक स्तर पर बराबर न केवल संवाद कर रहे हैं बल्कि अपनी विजय पताका भी फहरा रही हैं। आदिवासी विमर्श आज एक ज्वलन्त अकादमिक विषय बन गया है। पूँजीवाद के उदारीकरण (1991) के बाद सबकी नजर इनके कच्चे-पक्के मकान, जंगल, जमीन, जल आदि पर है। ऐसी स्थिति में आदिवासी अस्तित्व को बचाने में पत्र-पत्रिकाओं ने अपनी अहम भूमिका निभाई है। इन्हीं की वजह से आज हम पर्यावरण को बचाने में सक्षम हो रहे हैं, वरना ग्लोबल वार्मिंग भी एक चुनौती बन रही है। पृथ्वी को बचाने के लिए हमें आदिवासियों को संरक्षण देना ही होगा-आदिवासी विमर्श को समझना ही होगा।

आदिवासी विमर्श केंद्रित असंख्य पुस्तकें बाजार में नजर आती हैं। इनमें अधिकांश आदिवासी विमर्श पर बहुत सतही किस्म की बातें सम्मुख रखती हैं। ''आज बड़े घराने पुस्तक व्यवसाय में हैं। साहित्य संस्कृति के संरक्षक की उनकी भूमिका बहुत पहले समाप्त हो चुकी है। जो लेखक विभिन्न प्रकार के साहित्येत्तर कारणों से अथवा अपनी बोल्ड छवि और जीवन-शैली के कारण जितना चर्चित और विवादास्पद होगा उसका साहित्य में मार्केट उतना ही ऊँचा होगा।''[1] इसीलिए पुस्तक व्यवसाय से अलग हटकर ये पत्रिकाएँ सामाजिक समरसता का काम कर रही हैं, स्वार्थ का लेश मात्र भी अंश इनमें नहीं होता है। ये पत्रिकाएँ सामाजिक जीवन को प्रतिबिम्बित और आदिवासी मानव जीवन और उनके प्रकृति से जुड़े मनोभावों को कलात्मक रूप से व्याख्यायित करती हैं। अन्याय व शोषण का विरोध करती हैं। उनके जीवन के सर्जनात्मक उद्देश्यों को सन्निहित

करती हैं। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं में इनकी समस्याओं के साथ-साथ इनकी सांस्कृतिक विशेषताओं व आर्थिक क्रियाकलापों का विवेचन भी देखने को मिलता है।

भारत जैसे विशाल जनतांत्रिक देश में आदिवासी संस्कृति बहुत से इलाकों मे विलुप्त होती नजर आ रही है। अण्डमान के आदिवासी समुदायों में भी कुछ इसी प्रकार विलुप्त हुई है। यहाँ के जारवा लोगों की पूर्वज प्रजाति हुआ करती थी जिसे 'जंगिल' नाम से जाना जाता था। यह प्रजाति 1931 में ही विलुप्त हो गयी। इसका एक कारण तो शहरी खाना-पीना था। पका हुआ खाना खाने से इनकी आँत और आमाशय पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है क्योंकि जंगल में वे लोग अपने तरीकों से जीवन जीते थे। जंगल के खाने-पीने में इनको कोई तकलीफ नहीं होती थी पर मुख्यधारा के लोगों द्वारा प्रस्तुत पके हुए खाने और अंग्रेजी दवाओं ने इनकी जीवन-शैली, उम्र, शारीरिक स्फूर्ति सब कुछ बदल दिया है। अण्डमान की आदिवासी सभ्यता इन्हीं कारणों से नष्ट हुई है।

जहाँ भी खाली जगह को या कमजोर, अशिक्षित तबके को दबाया जाता है, उनको विकास की प्रथम सीढ़ी मानकर पैरो तले रौंदकर आगे बढ़ा जाता है। आदिवासियों के साथ भी यही होता आया है। वे लोग अपना बनाया हुआ आधार छोड़कर शहर की तरफ आते हैं , वहाँ भी उनका शोषण होता है या जहाँ रहते हैं, उस जगह के जंगलों को हटाकर शहर और नगर बसा दिये जाते हैं, जिससे इन लोगों की आजीविका का अन्त होता चला गया है। ''आर्थिक उदारीकरण, आक्रामक उपभोक्तावाद और शहरों के अत्यन्त अराजक विस्तार का जो दौर बीसवीं सदी के आखिरी दशक से अब तक लगातार जारी है, जिसमें छोटे-छोटे शहरों में कृषि की जमीन पर बिल्डर्स अंधाधुंध कंक्रीट का जंगल उगाने में लग गए।''[2]

'लमही' पत्रिका में ऐसे बहुत से ज्वलन्त मुद्दों पर केन्द्रित लेख प्रकाशित होते रहे हैं, जो वास्तव में आदिवासी विमर्श को एक नवीन दिशा देने में कामयाब रहे हैं। 'जनसत्ता', 'कथादेश', 'लमही,' 'अकार', 'पल-प्रतिपल', 'बनास जन', 'वागर्थ', 'हंस', 'तद्भव' आदि पत्र-पत्रिकाओं में आदिवासी विमर्श या इनसे जुड़े सभी मुद्दों से जुड़ी सामग्री प्रकाशित होती रही है। पिछले दो दशक से आर्थिक उदारीकरण भारतीय अर्थ नीतियों और राजनीतिक हलकों में मुद्दा बना हुआ है। इसने अकादमिक जगत में भी विस्थापन जैसी समस्या को केंद्र में ला दिया। यह आर्थिक उदारीकरण आदिवासी समाज के लिए तो जैसे अभिशाप बनकर सामने आया। आज भी आदिवासी आर्थिक उदारीकरण से पनपी समस्याओं के खिलाफ लड़ रहे हैं। ''आर्थिक उदारीकरण के बाद पूँजीवादी विकास मॉडल को बहुत ज्यादा शक्ति मिली और उसके असर में वैसे संवेदनहीन हृदयों की तादाद बढ़ती गई। फिर भी सवाल तो शेष रह ही जाता है कि क्या पारिवारिक मूल्यों के विघटन, जीवन की बुनियादी सुविधाओं का अभाव, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदर्शों का लोप, समाज में बढ़ती हत्या-आत्महत्या और नरसंहार की घटनाएँ तथा प्राकृतिक संसाधनों का विनाश यूँ ही जारी रहेगा या बहुत कुछ गँवाकर भी लोग इसके खिलाफ संगठित होंगे।''[3]

आज हिन्दी की लघु-पत्रिकाओं में आदिवासी समाज की भी बहुत सी विसंगतियों पर सीधा प्रहार किया जा रहा है जिससे समाज में सुधार की गुंजाइश बढ़ रही है। मानव समाज में प्रचलित बहुत सी परम्पराओं व कथाओं द्वारा आदिम युग के तहखानों तक पहुँच जाते हैं। आदिवासी लोककथाओं का एक पक्ष मनोरंजक अवश्य रहा है। पत्रिकाओं में यह विधा साहसिक रूप से प्रस्तुत की जा रही है। सामूहिकता, त्याग और आत्म-सम्मान जैसी भावनाओं के साथ जीवन को सुरक्षित जीने का तरीका भी हम इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सीख पाते हैं। इसी पर लमही के एक अंक में सामाजिक मूल्यों व पीढ़ियों में आ रहे मानवीय बदलाव के 'भारतीय कथाकार' नामक लेख में नवनीत मिश्र जी ने लिखा है, ''पाश्चात्य जीवन अपसांस्कृतिक आक्रमण के सामने सामान्य सहज जीवन जी रहे अपने को असहज महसूस कर रहे हैं। यहाँ जो भी बदलाव दिख रहे हैं, वे आन्तरिक जरूरतों के मद्देनजर नहीं बल्कि महज दिखने-दिखाने तक सिमट जा रहे हैं।''[4] विशिष्ट प्रथाएँ जो आदिवासी सामाजिक जीवन में व्याप्त हैं, उन सभी का कोई न कोई अर्थ जरूर था, पर अब समय के साथ इन प्रथाओं का कोई अर्थ नहीं रह रहा है। जैसे घोटुल, जिसका अर्थ है सामूहिक वास, स्थल इस प्रथा का एक ही उद्देश्य है कि इस परम्परा के माध्यम से आदिवासी अपनी जीवन-शैली के संस्कार विकसित कर जीवन को सार्थक व आधुनिक बना सके। इस प्रथा के साथ ही डायन प्रथा जिस पर ऐसी पत्रिकाएँ एक सही दिशा में अपना दृष्टिकोण रखती हैं और आदिवासी समाज को मुख्य धारा में लाने की कोशिश करती हैं। भगोरिया, प्रेम आधारित विवाह, विधवा विवाह या नाता प्रथा, मौताणा, संदेश जो परम्परागत आखेट पर्व माना जाता है। बसंत व होली पर्व आदि सभी अच्छाई व बुराई की प्रतीक प्रथाओं, परम्पराओं को समाज की दृष्टि में लाना व उनके प्रभाव को बताते हुए सामाजिक बदलाव के लिए प्रयत्नशील रहना भी इन पत्रिकाओं का उद्देश्य रहा है। ''पृथ्वी को अपनी माँ, आकाश को पिता, पहाड़ों को भाई, नदियों को बहन और वन्य जीवों को अपना साथी-संगी मानते रहने वाला आदमी प्रकृति के सान्निध्य में शांति का

पक्षधर रहा है। जो कोई इस पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन के आधार पर अपना भौतिक विकास करने के आशय से प्रकृति के विरोध में खड़ा होता रहा, उसी का प्रतिरोध आदिम सरोकारों वाले उस आदमी ने किया। इस प्रक्रिया में वह अपना बलिदान देता रहा है।''[5]

आदिवासी समाज आज भले ही मुख्यधारा के समाज में घुलने-मिलने के कगार पर आता दिख रहा है, मगर इसके बावजूद, यह अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को बचाये रखने की कोशिश में भी प्रयत्नशील है। हिंदू धर्म के पर्व-त्योहारों और देवी-देवताओं से इनकी दूरी आज भी दिखती है, जबकि मुख्यधारा की शिक्षा व्यवस्था में आदिवासी समाज का बड़ा हिस्सा लाभान्वित होने लगा है। ''भारत के किसी भी आदिवासी अंचल में परम्परागत रूप से बसंत ऋतु के पर्वोत्सवों के अवसर पर कहीं भी कुलदेवी सरस्वती की पूजा-अर्चना देखने को नहीं मिलती है, वहाँ इस ऋतु को विशुद्ध रूप में प्रकृति-पर्व के रूप में मनाया जाता है। आदिम समुदायों के हृदय में इस ऋतु का प्राकृतिक सौन्दर्य निरभ्र नील गगन के संग विशुद्ध वायु, संतुलित तापमान, निर्मल जल-स्रोतों, हरे-भरे पर्वतों, बहुवर्णी पुष्पावलियों, फलवती वनस्पतियों के रूप में आदिकाल से समाया हुआ है।''[6]

आजादी के इतने दशकों बाद भी भारत के आदिवासी उपेक्षित, शोषित और पीड़ित नजर आते हैं। ये नक्सलवाद व अलगाववाद से जूझते हुए अपनी आजीविका के लिए लड़ रहे हैं। आम चुनावों के समय बड़े-बड़े वादे किये जाते हैं, उन पर किसी सरकार द्वारा अमल नहीं किया जाता है। आदिवासी हितों व आडम्बरों-अंधविश्वासों को दूर कर उनकी समस्याओं के निराकरण का उपाय आज किसी भी संस्था, शासन या किसी भी सत्ता द्वारा नहीं किया जा रहा है। नक्सलवाद के प्रसार का दोष आज आदिवासियों को दिया जाता है लेकिन ये बनास-जन के एक अंक में गीता गैरोला के 'अबूझमाड़ के जंगलों में छूटी हँसी' नामक एक लेख में आदिवासियों के बहुत से क्षेत्रों का आँखों देखा हाल प्रस्तुत किया गया है। छत्तीसगढ़ के बस्तर के जनजीवन के बारे में बताया कि बस्तर में भेड़िये घूमते हैं लेकिन गैरोला बताते हैं कि वहाँ हमें तो सहज, सरल स्नेहिल, अपनी जमीन, अपनी नदी-नालों, तालाबों, अपने जंगलों को प्यार करने वाले लोग ही मिले।''[7]

लेखक ने स्वयं आदिवासी इलाकों को देखा। उन्हें दन्तेवाड़ा में जाने का अवसर मिलता है। यहाँ के लोगों के भोलेपन ने लेखक का मन मोह लिया। लेखक ने गोण्डी और मुड़िया जनजाति के लोगों से भी बातचीत की। लेखक का कहना है, ''जंगलों का अस्तित्व वास्तव में जंगली लोगों से ही है, यही इनके वनवासी रह जाने की विशेषता है। ये लोग आज भी खुद के देवी-देवताओं को प्राथमिक मानते हैं। प्रकृति के पुजारी हैं इनकी एक देवी का नाम मरदापालीन माता है, उसे लाल गुड़हल से पूजते हैं। यहाँ के लोग मालू के पत्तों से टोकरी बनाकर बीजों का संरक्षण करते है।''[8] 'बनास-जन' पत्रिका के साथ 'कथादेश' में भी बहुत सी कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं, जिनमें आदिवासी जीवन की संजीदगियों को उकेरा गया है। इनमें बताया गया है कि आदिवासी समाज में देशज व परम्परागत संस्कार हैं। ऐसे संस्कारों में जटिलताएँ नहीं हैं तथा न ही कोई अनावश्यक बाधाएँ हैं, बल्कि इस समाज में सहजता व सरलता ही व्यक्त है, परन्तु वैश्विक पूँजीवादी शक्तियों ने आदिवासी समाज को चारों तरफ से घेर लिया है। शहर के रूप में या फैक्ट्रियों-खदानों के रूप में। जिसमें आदिवासी समाज की पूरी सांस्कृतिक-आर्थिक व्यवस्था ध्वस्त हो गयी है। इन परिस्थितियों में आदिवासी समाज अपनी वर्गीय पहचान रखता है।''[9]

आदिवासी समाज जब से मुख्यधारा के समाज में घुलना-मिलना शुरू हुआ है, तब से इस आदिवासी समाज में भी बाल विवाह, नाता-प्रथा, दापा-प्रथा, पर्दा-प्रथा, बहु विवाह, तलाक, दहेज प्रथा, समदौला, मृत्युभोज आदि कुप्रथाएं पैदा हो गईं। इन सभी कुप्रथाओं के कारण आदिवासी समाज बहुत बदल गया। काफी विकृत होता गया है और आर्थिक रूप से पिछड़ता गया। ''उनकी नई संस्कृति के अपनाने पर भी बहुत सी समस्या बनी हुई हैं। आदिवासियों में आज भी उक्त गम्भीर समस्याओं में सबसे गम्भीर थी बाल-विवाह अर्थात् समाज में बाल-विवाह को प्रोत्साहन देने का कारण वर्ण-शास्त्रीय व्यवस्था तथा समाज की रूढ़िवादिता को माना जाता था।[10] पत्रिका 'कथाक्रम' का आदिवासी विशेषांक आदिवासी समाज के इन सब बदलते रूपों को विभिन्न विधाओं के माध्यम से सामने लेकर आने में काफी दूर तक सफल हुआ है।

इन पत्रिकाओं के कई अंकों में सम्पूर्ण आदिवासी जीवन और समाज विभिन्न मुद्दों और रूपों में समय-समय पर सामने आया है। चाहे वे इस समाज के अंधविश्वास हों या आजीविका का कोई प्रश्न हो, सभी पर भिन्न-भिन्न विधाओं से पाठकों, आम नागरिकों व शासन-प्रशासन तक पहुँचाने का काम ये पत्र-पत्रिकाएँ करती रही हैं।

पीटर पाल एक्का की बहुत सी कहानियाँ आदिवासी जीवन-दर्शन और गैर-आदिवासी समाज के बीच जो विरोधाभास है, उसको व्यक्त ही नहीं करती हैं, बल्कि दोनों के बीच एक सांझी संस्कृति भी तैयार करते हैं। 'पलास के फूल' उपन्यास में आनंद बाबू गैर-आदिवासी पात्र है। किन्तु कभी भी आनंद बाबू ने आदिवासियों पर मुख्यधारा के नियमों को थोपने की

कोशिश नहीं की है। यही कारण है कि आदिवासी लोग आनंद बाबू से डरते नहीं, उनसे वे प्यार से रहते हैं। आदिवासी अपने सभी प्रकार के उत्सवों, मेलों, त्योहारों में आनन्द बाबू को निमंत्रण देते हैं और आदर के साथ उनकी मान-मनुहार करते हैं। वे आदिवासी युवती से विवाह भी करते हैं और दो संस्कृतियों को मिलने का मौका देते हैं। इस उपन्यास का यही उद्देश्य भी है कि किसी भी परिस्थिति में दो संस्कृतियों का भाईचारे-प्रेम व सद्भाव के साथ मेल-मिलाप करना अर्थात् साझी संस्कृति का निर्माण करना ही हो सकता है। 'पाँव तले की दूब' नामक उपन्यास में संजीव ने लिखा है, ''आदिवासी लोगों की दो कमजोर नसें हैं—अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता! अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती है और उत्सवधर्मिता इन्हें कंगाल बनाती रहती है।''[11] क्योंकि इनका सम्पूर्ण जीवन अरण्यमुखी और उत्सवधर्मिता पर ही आश्रित है। ये लोग सरकारी अत्याचारों या आक्रमणकारियों के कारण दूर जंगल में अपनी सांस्कृतिक वैभवता के साथ निवास करते हैं। बहुत सारे लेखक-सम्पादक इनके बारे में अपनी अलग-अलग सोच या दृष्टिकोण के साथ लेखन कार्य कर रहे हैं। आदिवासी वास्तव में आज प्रकृति के केन्द्र में हैं। सहअस्तित्व, सामूहिकता, सहजीविता तथा श्रम आनंद की प्राप्ति मात्र हैं। आदिवासी जीवन-दर्शन और आदिवासी विमर्श में एक सार के रूप में कवि अनुज लुगुन का कहना है, ''जो कॉलोनियाँ विकसित हुई हैं, उन कॉलोनियों में रहने वाले आदिवासी नहीं थे और न ही वे आदिवासी संस्कृति से परिचित थे। इसलिए वहाँ मौजूद दोनों जनसंख्या एक-दूसरे से अपरिचित थे। वहाँ अन्ततः उस कॉलोनीवासियों का प्रभुत्व कायम हुआ और आदिवासी समाज जिस संस्कृति पर गर्व करता था, वहाँ हेय माना गया अर्थात् कॉलोनी की संस्कृति और आदिवासी संस्कृति दोनों में भिन्नता कर दी गई। क्योंकि वहाँ ब्राह्मणवादी-सामंती और पितृसत्तात्मक संस्कारों का बोलबाला था। यही कारण था कि वहाँ अन्य सत्ताधारियों ने आदिवासी महिलाओं को 'वेश्याओं' के रूप में देखना शुरू कर दिया था। ऐसी सामाजिक संरचना आदिवासी समाज को उत्थान की बजाय, गर्त की ओर ले जाने वाली ही साबित हुई है।''

बहुत सी मासिक, त्रैमासिक व पाक्षिक पत्रिकाओं ने आदिवासी विमर्श को समृद्ध किया है। 'लमही', 'अरावली उद्घोष', 'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका के बहुत से अंकों में कई समर्थ कथाकारों ने अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी और अपनी पीढ़ी के कथाकारों का रोचक विश्लेषण किया है। इस क्रम में केदार प्रसाद मीणा, विजय सिंह मीणा, रणेंद्र, पंकज मित्र, रोज केरकेट्टा, रूपलाल बेदिया आदि की कहानियों ने समृद्ध आदिवासी विमर्श परिवेश बनाया; वहीं निर्मला पुतुल, जसिंता केरकेट्टा, अनुज लुगुन, वंदना टेटे आदि की कविताओं ने अपने ढंग से समृद्ध किया। नब्बे के दशक से लेकर अभी तक देश की बहुत सी चर्चित साहित्यिक पत्रिकाएँ सामाजिक समरसता की बात करती हैं और प्रगतिवादी विचारधारा का अवलोकन कर आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा, समानता व राजनीतिक जागृति लाने का प्रयास करती हैं।

अतः ऐसी पत्रिकाओं ने हमेशा ही समाज में उत्पीड़न और उत्पादक वर्ग तथा सत्ता तंत्र के प्रति अपने स्वतंत्र विचार रखे हैं। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक शोषण आदिवासियों का हमेशा ही हो रहा है। आगे भी जब तक इनको शिक्षा व रोजगार नहीं मिलेगा, तब तक होता रहेगा। बहुत से देशों में शासक वर्ग ने शिक्षा के मसले को आसानी से सुलझाया है। लेकिन आदिवासियों के सम्बन्ध में आज भी राजनेता अपनी स्वार्थ की रोटी सेक रहे हैं। ऐसी स्थिति में ऐसी पत्र-पत्रिकाओं के सहारे ही आदिवासी समाज में जागृति लाई जा सकती है तथा सभी में आपसी प्रेमभाव जाग्रत किये जा सकते हैं। समाज में आपसी सद्भाव कायम करना ही इन पत्र-पत्रिकाओं का अहं दायित्व है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. 'वागर्थ' (भारतीय भाषा परिषद कलकता), अंक 226, मई, 2014, पृ. 34
2. 'लमही', अक्टूबर-दिसम्बर-2019, संपादक—विजय राय, लखनऊ, पृ. 79
3. वही, पृ. 82
4. वही, पृ. 158
5. 'आदिवासी दर्शन और समाज', 'हरिराम मीणा', राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2020, पृ॰ 221
6. वही, पृ. 113
7. 'बनास जन', संपादक, 'पल्लव', जनवरी-मार्च 2018, अंक-29, वर्ष-10, दिल्ली, पृ. 168
8. वही, पृ. 171
9. 'ईक्षा', संपादक, डॉ. परशुराम सिंह, अंक 16, वर्ष 2018, आरा, बिहार, पृ. 122
10. 'प्राचीन भारत में नारी', उर्मिला प्रकाश मिश्र, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2012, पृ. 61
11. 'पाँव तले की दूब', संजीव, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2009, पृ. 14

लेखक द्वय

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
शहीद भगत सिंह कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय), नई दिल्ली-110017

राष्ट्रवाद का करिश्मा और हिन्दी सिनेमा

—डॉ. कुमार भास्कर

राष्ट्रवाद में करिश्मा तो है ही। विश्व के इतिहास में कई युद्ध और तानाशाह को उसके मुकाम पर पहुँचाने में राष्ट्रवाद ने किसी करिश्मे की तरह जबरदस्त भूमिका निभाई है। निस्संदेह, यह राष्ट्रवाद का बुरा स्वरूप है। विद्वानों ने राष्ट्रवाद को कई तरह से विभाजित किया है। राजनीति विज्ञान के विद्वान एंड्रयू हेयवुड ने राष्ट्रवाद के विभिन्न रूपों को पहचानने के लिए राष्ट्रवाद को कई भागों में बाँटा है जिनमें उदारवादी राष्ट्रवाद, संकीर्ण राष्ट्रवाद, विस्तारवादी राष्ट्रवाद और उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवाद है। इसके इतर एरिक हॉब्सबाम, राष्ट्रवाद को एक ईजाद की गई परंपरा मानते हैं जिसका मूलतः कोई अस्तित्व नहीं है, वह रचित है। इसी परंपरा में आगे बेनेडिक्ट एंडरसन, राष्ट्र को एक काल्पनिक समूह के रूप में देखते हैं। इन सभी के विपरीत, राष्ट्रवाद के विचार को अगर हम भारतीय संदर्भ में देखें तो श्री अरविंद जैसे विचारक सोचते थे कि राष्ट्रवाद एक ऐसा अवतार है जिसका वध नहीं किया जा सकता। राष्ट्रवाद तो दैव द्वारा नियुक्त उस शाश्वत की एक ऐसी शक्ति है जिसे ईश्वर प्रदत्त उत्तरदायित्व पूरा करना ही है। केवल तभी वह उस सार्वभौम ऊर्जा के आलिंगन में लौटेगी जिससे वह निकली थी।[1]

राष्ट्रवाद उस बाध्यता की तरह हो चुका है जिससे बचा तो नहीं जा सकता, लेकिन अलग-अलग तरीके से देश के नाम पर गढ़ा जाता है। यह राजनैतिक विवशता बन चुका है जिसे नकार नहीं सकते हैं, लेकिन इतिहास की समझ से राष्ट्रवाद की जरूरत को सही दिशा देने की कोशिश की जा सकती है। भारत के संदर्भ में देखें तो इसकी समझ आधुनिक समाज के महानायकों जैसे रवींद्रनाथ टैगोर, जवाहरलाल नेहरू, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, सुभाषचंद्र बोस जैसे नायकों के माध्यम से इस बात को हम समझ सकते हैं। टैगोर के अनुसार—"केवल पराधीन नस्लें ही नहीं, बल्कि आजाद होने की गलतफहमी के शिकार आप लोग भी प्रत्येक दिन अपनी आजादी और अपनी मानवीयता को राष्ट्रवाद नाम की इस अंधश्रद्धा पर कुर्बान कर रहे हैं। इस बात पर हमें सांत्वना नहीं मिल सकती कि मौजूदा युग में मानवता जिस क्षण से गुजर रही है, वह केवल पराधीन नस्लों तक ही सीमित नहीं है। न ही इस बात से कि इसके कारण होने वाला नुकसान और भी ज्यादा बुनियादी किस्म का है, क्योंकि वह उस समय और भी घातक हो जाता है जब लोग उसे एक सम्मोहन के वशीभूत होकर इस यकीन के साथ स्वतः स्वीकारते हैं कि वे तो स्वतंत्र हैं।"[2]

राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक और उपनिवेशवादी प्रभावों से भारतीय समाज प्रभावित है। आजादी के पूर्व राष्ट्रवाद के मायने धर्म, सामंती और जाति के मायनों से देश में विभिन्न कालखंडों तक सीमित संदर्भों में था। भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के दौर में, सावरकर का राष्ट्रवाद, जिन्ना के राष्ट्रवाद को उत्तेजित करता है। इस उत्तेजना को बढ़ाने और भुनाने में औपनिवेशिक राष्ट्रवाद के पुरोधा अंग्रेज फायदा उठाते हैं। वहीं अम्बेडकर के राष्ट्रवाद में गुलाम देश को जातीय गुलामी से बाहर निकलने की छटपटाहट है। सबके लिए राष्ट्रवाद अलग-अलग मतलब से उभर कर आता है। देश कैसा बने? यह सवाल आधुनिक राष्ट्र के निर्माण की बुनियाद है। अंबेडकर द्वारा बनाए गए संविधान को उस दौर में कट्टरपंथियों ने जलाया और आज भी जला रहे हैं। समतामूलक राष्ट्र की कल्पना में दलित समाज की भूमिका को एक मानसिकता विशेष का वर्ग बर्दाश्त नहीं कर पाता है। भारतीय राष्ट्रवाद के मूल मंत्र अनेकता में एकता की कई परतें हैं जिनके बीच-बीच में जाति, धर्म, गोत्र, क्षेत्रीय भाषा इत्यादि के नाम पर कलई खुल जाती है। यही तो राष्ट्रवाद का करिश्मा है, जहाँ बिखराव को भी राष्ट्रवाद के नाम पर समेटा गया है। यह समेटने का भाव बाहर के देशों के लिए अद्‌भुत भारत की तरह है। राष्ट्रवादी राजनीति का कट्टरवादी दुराग्रह भारत की बेहतरीन संभावना को रोकता है। विविधता में एकता के लिए हम दुनिया में अकेले नहीं हैं। गर्व होना चाहिए, लेकिन मूल्यांकन भी। जरूरत से ज्यादा महिमामंडन सवालों और आलोचना को राष्ट्रवाद के नाम पर खत्म किया जा सकता है। राष्ट्रवाद के मिथक का इस्तेमाल परंपरा और संस्कृति को और भी पुष्ट करने के लिए किया जाता रहा है। भारत को गौरवशाली बताने वाली कई बातों में से कुछ एक जैसे, बुद्ध की एक अंतरराष्ट्रीय छवि है। जबकि हिंदूवादी विचार उन्हें दसवाँ अवतार घोषित करते हैं। चाणक्य मौर्य के गुरु हैं कि नहीं इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है और अगर गुरु मान भी लिया जाए तो उनका महत्त्व कितना था? लेकिन राष्ट्र के गौरव के रूप में मौर्यों से ज्यादा चाणक्य को प्रतीकात्मक रूप में पेश किया गया है। राष्ट्र का एक ऐसा राष्ट्रवादी मेकअप किया जाता है जिसमें असलियत छिप कर रह जाती है। डॉ. अंबेडकर राष्ट्रवाद व राष्ट्रीयता पर अपना विचार रखते हैं। उससे हम भारतीय संदर्भ की मानसिकता में जो आधिपत्य का भाव है और जो प्रतीकात्मक रूप में उभर कर आता भी है, उसको हम समझ सकते हैं। वह कहते हैं कि सर्वप्रथम राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद में अंतर है। यह मानव मस्तिष्क की दो भिन्न मानसिक अवस्थाएँ हैं। राष्ट्रीयता का अर्थ 'एक समान होने की चेतना', यह जागरूकता कि हम सब किसी समान सूत्र से जुड़े हैं जबकि 'राष्ट्रवाद एक समान लोगों के लिए एक पृथक् राष्ट्र के अस्तित्व की इच्छा है।' यह सही है कि राष्ट्रीयता की भावना के अभाव में राष्ट्रवाद का होना संभव नहीं है। किंतु यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि यह सदैव सत्य नहीं है।[3]

इसलिए भी जब हम भारत की एकता को प्रतिबिंबित करने के लिए हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई की तस्वीरों को एक साथ रखते हैं, तो वहाँ हिंदू का प्रतीकात्मक रूप तिलकधारी और चुटियाधारी व्यक्ति होता है और दूसरा सवाल हिंदू महिलाओं का भी है। महिला संदर्भ अन्य धर्मों के लिए भी समान रूप से प्रश्न खड़ा करता है। उसके लिए कौन सा समानता का प्रतीक या तस्वीर होगी यह अक्सर देखने को नहीं मिलता है। अंबेडकर जब कहते हैं कि एक समान लोगों के लिए पृथक् राष्ट्र। यह राष्ट्रवाद के भारत देश के उस कट्टर रूप को प्रदर्शित करता है जो धर्म विशेष के आधिपत्य को सर्वोपरि रखता है। जिसकी वजह इतिहास और शासन व्यवस्था में उनका नियंत्रण होना और आगे भी बनाए रखने की संभावना में बाकियों को भी सम्मिलित करके अपने अनुकूल बनाकर रखने की चाह है।

इन सारी बहसों और सवालों के बीच हिन्दी सिनेमा कैसे उसके प्रभाव से मुक्त रह सकता है। हिन्दी सिनेमा के शुरुआती दौर को देखें तो उसमें देशभक्ति के सबसे पॉपुलर मानदंडों में से एक भारत-पाकिस्तान और एक दौर में भारत-चीन के युद्ध पर आधारित फिल्में प्रसिद्ध रही हैं। हिन्दी सिनेमा का राष्ट्रवाद युद्ध केंद्रित ज्यादा रहा है। उसमें स्वदेश, रंग दे बसंती, लगान, उपकार, चक दे इंडिया जैसी फिल्मों की संख्या तुलनात्मक रूप में कम हैं। ये वो फिल्में हैं जिनका पटकथा युद्ध केंद्रित नहीं है। बगैर युद्ध के भी देशभक्ति की भावना को प्रेरित किया जा सकता है। इन फिल्मों की सोच के स्तर पर देशभक्ति और राष्ट्र के दायरे को विस्तार देती है, जो सिनेमा जगत में राष्ट्र के स्वरूप के लिए, एक बेहतरीन विकल्प के रूप में उपस्थित है। इन फिल्मों ने भारत-पाकिस्तान या भारत-चीन युद्ध के इतर हमारी छवि को बेहतरीन तरीके से गढ़ा है। 'ए वतन ए वतन', 'कर चले हम फिदा' जैसे गीत राष्ट्रवादी भावना को भावुक रूप प्रदान करते हैं। गीत-संगीत मन को छूता है, यह रागात्मक है। इसलिए जहन में बिना याद किए भी रह जाता है। हिन्दी सिनेमा के गीत-संगीत का राष्ट्रवादी स्वरूप समतामूलक और समन्वयात्मक नजर आता है। फ़िल्म रिफ्यूजी का, 'पंछी नदियाँ और पवन के झोंके कोई

सरहद ना इन्हें रोके', फ़िल्म रंग दे बसंती से,'सपने रंग दे, अपने रंग दे, खुशियाँ रंग दे, गम भी रंग दे, नस्लें रंग दे, फसले रंग दे, रंग दे धड़कन, रंग दे सरगम' गीत, समरस राष्ट्र को अभिव्यक्त करता है। इन गीतों का व्यवहार कट्टर राष्ट्रवाद के विपरीत नजर आता है।

राष्ट्रवाद की पटकथा का स्वरूप हिन्दी सिनेमा में काफी हद तक एक पैटर्न का रहा है जिसमें बदलाव कुछ बेहतरीन फिल्मों के आने से हुआ है। मसला यह भी है कि भारत-पाकिस्तान युद्ध पर आधारित फिल्मों में जितनी भावुकता और आकर्षित भारतीय समाज को करती है, उतनी भारत-चीन युद्ध पर आधारित फिल्में नहीं कर पाती हैं। इसकी एक वजह धार्मिक-सांप्रदायिक भावना है। यह चूँकि चीन से सीधा-सीधा धार्मिक मामला नहीं बनता तो, स्वदेशी के नाम पर वहाँ की चीजों का बहिष्कार दिखावा मात्र प्रतीत होता है। इसलिए सिनेमा भी भारत-चीन को लेकर ज्यादा कोशिश नहीं करता है। भारतीय समाज के लिए यह मुद्दा, जिसमें पाकिस्तान शामिल है, काफी रोमांचित करता है। हिन्दी सिनेमा उसी पॉपुलर नजरिए को अक्सर नए तरीके से पेश करता है। यह कुछ उसी तरह से है, जैसे राजनीति में वोट पाने के लिए, उसी तरह सिनेमा मुनाफे के लिए करता है।

ऐतिहासिक और बॉयोपिक सिनेमा को इतिहास और यथार्थ के ज्यादा निकट होना पड़ेगा। दर्शकों को भी जब एक बेहतरीन विकल्प मिलेगा, तो उनके स्वाद में भी यह बदलाव पैदा होगा। ऐतिहासिक किरदारों के माध्यम से भी राष्ट्रवाद को पेश किया जाता है जिनमें से कुछ अच्छी फिल्में द लीजेंड ऑफ भगतसिंह, नेताजी सुभाषचंद्र बोस, द फारगोटेन हीरो, मेरी कॉम, शकुंतला देवी, नीरजा, भाग मिल्खा भाग इत्यादि हैं। लेकिन कई बार हम अपने महत्त्व को खुद कम कर देते हैं। जैसे सम्राट अशोक पर बनी फिल्म 'अशोका' अपनी प्रस्तुति में इतनी कमजोर है कि वह भारत में भी नहीं चल पाई तो विदेशों की क्या बात करें! ऐतिहासिक घटना और चरित्र के ऊपर केंद्रित फिल्में अगर अच्छे से शोध करके बनाई जाएँ तो विदेशों में भी पहचान मिलेगी, जो जरूरी भी है। अच्छा सिनेमा विदेशों में हमारी सोच और नजरिये को अभिव्यक्त करता है। जरूरी है फिल्मों को पात्रों और परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की, न कि अपने अनुकूल और अपनी सुविधा से। अभी हाल में ही सरदार ऊधम सिंह पर भी एक बेहतरीन फिल्म आई थी। सच्ची घटना पर आधारित देशभक्ति की फिल्में अमूमन ज्यादा प्रभाव छोड़ती हैं। ऐसी फिल्में ज्यादा विश्वास जगाती हैं। साथ ही, देशहित के लिए विभिन्न समुदायों की भागीदारी को प्रदर्शित करती हैं। लेकिन राष्ट्रवाद के नाम पर मर-मिटने का भाव सदैव सही नहीं हो सकता है। जब फिल्में राष्ट्रवाद के नाम पर मर-मिटने की भावनाओं से ओतप्रोत कर देती हैं तो, उसके साथ दूसरी ओर आम जनता को हिंसा के लिए अप्रत्यक्ष रूप से उद्वेलित कर देती हैं। यहाँ पर आकर राष्ट्रवाद फिर ग्लैमरस हो जाता है जिसमें कोई भी झंडा उठाकर किसी की हत्या, भारत माता के नाम पर कर सकता है। इसलिए सिनेमाई राष्ट्रवाद का एक पहलू संतुलित होगा तो दूसरा पहलू असंतुलित भी हो सकता है। भले ही यह भावना सीधे-सीधे पेश न की जा रही हो। लेकिन जब फिल्म 'माँ तुझे सलाम' (2002) का एक संवाद 'दूध माँगोगे तो खीर दूँगा, कश्मीर माँगोगे तो चीर दूँगा' फिल्म में यह एक पाकिस्तानी को कहा गया, लेकिन समाज में धार्मिक-राजनैतिक कट्टरपंथियों के लिए यह डायलॉग, किसी राष्ट्रवादी टॉनिक से कम नहीं है। फिल्म 'गदर' में सनी देओल, अशरफ अली के कहने पर कहते हैं कि 'पाकिस्तान जिंदाबाद' लेकिन हिन्दुस्तान मुर्दाबाद नहीं कहते और वाजिब भी है। सवाल यह है कि कट्टरपंथियों के लिए दूसरे देश का जिंदाबाद होना, वह भी पाकिस्तान का, शूट नहीं करता है। 'गदर' फिल्म का यह डायलॉग, निःसंदेह राष्ट्रवाद की बेहतरीन छवि को पेश करता है। लेकिन आज 21वीं सदी के बेंगलुरू की एक घटना, जिसमें एक लड़की ने कई देशों के लिए जिंदाबाद के नारे लगाए जिसमें पाकिस्तान भी शामिल था। उसको कई सारी मुश्किलों से सामना करना पड़ा। जब फिल्म 'गदर' रिलीज हुई तब किसी ने नहीं पूछा कि फिल्म का डायलॉग जिसमें पाकिस्तान जिंदाबाद है, उसको बैन किया जाए या हटाया जाए। देश में प्रत्येक राजनीतिक दल राष्ट्रवाद के किसी-न-किसी रूप को लेकर के चलता है। मसला यह है कि जहाँ राष्ट्रवाद के नाम पर धर्म, नस्ल, भाषा, जाति, संस्कृति इत्यादि का नजरिया हावी होगा, वहाँ राष्ट्रवाद उग्र हो जाएगा। मणिरत्नम की फ़िल्म 'दिल से' और कमल हासन की 'हे राम', उन बेहतरीन फिल्मों में से हैं, जो अपने प्रभाव में भी सफल रहीं। इन फिल्मों ने राष्ट्रवाद के दुष्परिणामों को दिखाने का साहस किया है। फ़िल्म 'दिल से' में आतंकवाद और सेना द्वारा कश्मीर में की गई ज्यादतियों को दिखाया गया है। देशभक्ति के भाव को नियंत्रित करने के लिए अक्सर सेना को आगे रखा जाता है। सेना को एक सार्वभौमिक सत्य के रूप में ऐसे पेश किया जाता है कि जैसे वहाँ सब कुछ पवित्र है। फिल्म उस पवित्रता पर सवाल खड़े करती है। देखा जाए तो फिल्म का यह दिखाना अपने आप में काफी साहस भरा कदम था। इसी तरह फ़िल्म 'हे राम' इतिहास और वर्तमान

की घटनाओं के आधार पर, धर्म के राजनैतिक इस्तेमाल से फैली हिंसा को दर्शाती है। जिसमें किस तरह से सांप्रदायिकता को राष्ट्र के नाम पर उचित ठहराया जाता है और इसी के परिणामस्वरूप गांधी की हत्या भी होती है। फिल्म राष्ट्रवाद के नाम पर वोट बैंक की राजनीति और सत्ता के प्रति लोलुपता को संजीदगी और सवालों के साथ पेश करती है।

राष्ट्रवाद को प्रभावी बनाने के लिए कई तरीकों में से एक, नायकों का चुनाव भी होता है। अक्सर समाज ने और हिन्दी सिनेमा ने भी, दलित नायकों को दरकिनार करके, केंद्रीय भूमिका कुछ चुनिंदा नायकों के माध्यम से ही देशभक्ति को पेश किया है। सिद्धू-कान्हू, बिरसा मुंडा, ऊदा देवी पासी, झलकारी बाई, सावित्रीबाई फुले इत्यादि कई बहुजन नायक हैं, जो भारत के पॉपुलर मन और हिन्दी सिनेमा के राष्ट्रवादी परदे से बाहर हैं यदि कहीं हैं तो वे ना के बराबर हैं। राष्ट्रवाद के नाम पर देश को प्रतिबिंबित करने वाले किरदारों में बहुजन नायकों को हिन्दी सिनेमा ने पिछली लाइन में खड़ा कर रखा है। निःसंदेह, भारतीय सिनेमा बदल रहा है। खासकर नेटफ्लिक्स, हॉटस्टार, अमेजन प्राइम इत्यादि प्लेटफार्म ने, वेब सीरीज के माध्यम से, फिल्मों के समानांतर एक नया और बेहतरीन विकल्प रख दिया है। साल 2021 में अमेजॉन प्राइम पर आई फिल्म, 'जय भीम' ने सिनेमा की पूरी पुरानी और परंपरागत मान्यताओं को रद्द कर दिया और फिल्म ने देश तो देश, विदेशों में भी एक मुकाम हासिल किया, जहाँ ऑस्कर के यूट्यूब चैनल पर 'जय भीम' कुछ दृश्यों को दिखाया गया। इससे मालूम पड़ता है कि अच्छा सिनेमा जाति की लकीरों को मिटाकर अपनी जगह बना सकता है और साथ ही मुनाफा भी कमा सकता है। आजकल वेब सीरीज भी यथार्थ के वोकल और वैचारिक विवधता को सामने ला रहे हैं। आने वाले समय में यह सिनेमा के लिए चुनौती साबित होगा। क्योंकि, जब दर्शकों को अच्छी पटकथा और अभिनय, ठेठ फॉर्मूला सिनेमा के विकल्प में मिलेगा तब हिन्दी सिनेमा पर दबाव और बढ़ जाएगा। वेब सीरीज पर आए द फैमिली मैन, द फरॅरगॉटेन आर्मी, स्पेशल ऑप्श इत्यादि को दर्शकों ने बहुत पसंद किया। सिनेमा और वेब पर जो नया रूप हमारे सामने आया है। इन दोनों को हम मिला कर देखें तो, लीक से हटकर फिल्में और वेब सीरीज बनाने का मौका मिल रहा है और मिलेगा भी। नेटफ्लिक्स पर 2019 आई वेब सीरीज 'लैला' कुछ उसी तरह से लीक से हटकर बनी थी जिसमें आने वाले भविष्य में भारत दो हिस्सों में बँट चुका है। जिसमें एक हिस्सा 'आर्यावर्त' के नाम से जाना जाता है। जहाँ पर मिश्रित विवाह (छोटी-जाति बड़ी जाति, हिंदू-मुसलमान, इत्यादि) को सरकार के आदेश से अपराध माना गया है। इस आर्यावर्त में गांधी की तस्वीर को लगाना भी अपराध की तरह ही देखा जाता है। यह सब इस वेब सीरीज में एक आर्यावर्त नाम के देश के भीतर हो रहा है। जिसके लोग आलीशान जिंदगी जी रहे हैं और आर्यावर्त के बाहर जिंदगी बदतर है। वेब सीरीज का यह रूप भविष्य के आईने में देखा जा रहा है। शायद मुख्यधारा की फिल्में इस तरह का साहस, अपेक्षाकृत इतना खुलकर नहीं कर पातीं, जो इस वेब सीरीज ने कर दिखाया है। अमूमन, हिन्दी सिनेमा का राष्ट्रवादी रवैया विवादों से परे रहने ही कोशिश करता है, अपवाद की कुछ फिल्मों को छोड़कर। इसकी वजह राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था में है। हिन्दी सिनेमा, राष्ट्रवाद के भावात्मक रूप को राष्ट्र के यथार्थवादी रूप पर आरोपित करता रहता है। 'भावात्मकता' अक्सर राष्ट्र के लिए मर-मिटने और उसके प्रति असहिष्णु होने का भाव पैदा कर सकती है। भावुकता का अतिरेक राष्ट्रवाद को राष्ट्र की जिम्मेदारियों से दूर ले जाता है। जैसे मार्केटिंग के लिए स्वदेशी का राग राष्ट्र के नाम पर अपने बिजनेस को बढ़ाने के लिए बनता जा रहा है। इसकी जमीनी हकीकत कुछ और ही है। उसी तरह आजकल धड़ाधड़ राष्ट्रप्रेम की फिल्में रिलीज हो रही हैं, जो हिंदुस्तान के राष्ट्रवादी स्वरूप के कई पहलुओं को उजागर नहीं करता है। ज्यादातर हिन्दी सिनेमा लीक पर चलने वाले ही हैं। जब तक कला की अभिव्यक्ति दबाव मुक्त नहीं होगी तब तक राष्ट्रवाद का पॉपुलर फॉर्मूला ही ज्यादा चलेगा। कुछ बदलाव जरूर हुए हैं, उन बदलावों को और भी विकसित होना अभी बाकी है।

संदर्भ

1. 'राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति', आशीस नंदी, वाणी प्रकाशन।
2. वही
3. 'Pakistan or the partition of India', बी.आर. आम्बेडकर।
4. 'राष्ट्रीयता और हिन्दी सिनेमा', डॉ. कुमार भास्कर, संजय प्रकाशन ।
5. एंड्रयू हेवुड, पॉलिटिक्स

डॉ. कुमार भास्कर
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

जीवनीपरक होता सिनेमा का रंग

—अनुपम कुमार

इतिहास अपने को दुहराता रहता है, यह बात जीवन और समाज के संदर्भ में अक्सर कही जाती है। लेकिन हिन्दी सिनेमा भी इससे दूर नहीं है। आज से सौ साल पहले जब हिन्दी सिनेमा में मूक फिल्मों के निर्माण का कार्य शुरू हुआ तो पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों को आधार बनाकर एक के बाद एक कई फिल्में बनाई गईं। इनमें 1913 में प्रदर्शित राजा हरिश्चन्द्र से लेकर भक्त प्रह्लाद, भक्त विदुर, सावित्री सत्यवान से लेकर संत तुकाराम, संत नामदेव और संत एकनाथ जैसी फिल्में प्रमुख थीं। जैसा कि अपनी पुस्तक 'फिल्मक्षेत्रे-रंगक्षेत्रे' में अमृतलाल नागर ने लिखा है, ''सन् 1913 से 1920 तक फिल्मों में क्रमशः पौराणिक कथानक ही अधिकतर हमारे सामने पेश हुए।'' सौ साल बाद इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में एक बार फिर से बॉलीवुड में ऐसी फिल्में रंग भर रही हैं जिनके कथानक वेद या पुराण से नहीं, सीधे-सीधे समाज या फिर इतिहास से जरूर लिए गए हैं। बॉलीवुड में ऐसे चरित्रों या जीवन पर बनी हुई फिल्मों को 'बायोपिक' की संज्ञा दी गई है। विगत कुछेक सालों में ही कम-से-कम 25 से भी अधिक फिल्में किसी-न-किसी चरित्र या चरित्र के साथ घटित घटना को आधार बनाकर तैयार की गई हैं।

बायोपिक फिल्म बनाने का काम कोई पहली बार घटित होने वाली घटना नहीं है। बॉलीवुड के इतिहास को देखें तो हर दौर में यह काम किसी-न-किसी रूप में चलता रहा है। लेकिन पिछले एक दशक में बायोपिक यानी जीवनीपरक सिनेमा बनाने का काम एकाएक तब और जोर पकड़ने लगा जब 2011 में मिलन लूथरिया ने सिल्क स्मिता की जीवनी पर आधारित 'द डर्टी पिक्चर' बनाई। सिल्क स्मिता दक्षिण की एक अभिनेत्री थी जिसकी रहस्यमय तरीके से मौत हो गई थी। फिल्म में स्मिता के किरदार को निभाने वाली अभिनेत्री विद्या बालन को इससे खूब शोहरत मिली और फिल्म को तीन पुरस्कार भी। बॉलीवुड में नए तरह के इस ट्रेंड पर लूथरिया का कहना था, ''आज दर्शक फिल्मों में असल जिंदगी की झलक देखना चाहता है। अब दर्शक फिल्मों से किसी तरह का जुड़ाव महसूस करना चाहते हैं।'' जब 'द डर्टी पिक्चर' बॉक्स ऑफिस पर सफलता के झंडे फहरा दिए तो आगे चलकर बायोपिक का सिलसिला तेज हो गया। अगले साल यानी 2012 में एक और सफल फिल्म 'पान सिंह तोमर' आई, इसकी कहानी भारतीय राष्ट्रीय खेल के स्वर्ण पदक विजेता पान सिंह तोमर पर आधारित थी जो मजबूरन बागी बन जाता है। इस फिल्म का निर्देशन तिग्मांशु धुलिया ने किया था।

यह फिल्म भी खूब चर्चित रही और बॉक्स ऑफिस पर 38 करोड़ रुपये से भी ज्यादा की कमाई की। पान सिंह तोमर का किरदार प्रसिद्ध अभिनेता इरफान खान ने निभाया था। इसने कमाई ही नहीं बल्कि 60वें राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार में सर्वश्रेष्ठ फीचर फिल्म और सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार भी जीता। इस फिल्म को मिली सफलता के बाद ऐसी और फिल्में भी बनने लगीं जिसकी कहानी वास्तविक जीवन के प्रसिद्ध किरदार थे। वर्ष 2013 में भारत के प्रसिद्ध धावक मिल्खा सिंह की जीवनी को एक बार फिर से परदे पर उतारा गया। राकेश ओमप्रकाश मेहरा निर्देशित 'भाग मिल्खा भाग' नाम से बनी इस फिल्म ने भी खूब सुर्खियाँ बटोरी। इसे भी सर्वश्रेष्ठ मनोरंजक फिल्म के पुरस्कार से नवाजा गया। सिनेमा में मिल्खा के किरदार को परदे पर हू-ब-हू उतारने का काम अभिनेता फरहान अख्तर ने किया था। इन फिल्मों की सफलता और चर्चा के कारण बॉलीवुड बहुत कुछ बदलता नजर आया। अकेले 2016 में ही सात ऐसी फिल्में बनीं जो किसी-न-किसी के जीवन पर आधारित थीं। इनमें प्रमुख हैं : नीरजा, अजहर, एम. एस. धोनी : द अनटोल्ड स्टोरी, वीरप्पन, सरबजीत, बुधिया सिंह बॉन टू रन और दंगल।

नीरजा फिल्म की कहानी विमान अटेंडेंट नीरजा भनोट के जीवन पर आधारित है जिसने अपनी जान की परवाह किए बिना 360 यात्रियों की जान बचाई थी। अमेरिका के लिए रवाना हुए पैन एम 73 विमान का सितम्बर, 1986 में कराची हवाई अड्डे पर अपहरण कर लिया गया था। लेकिन जिस बहादुरी का परिचय नीरजा ने दिया था वह काबिलेतारीफ है। विमान अपहरण कांड में उसकी मौत भी हो गई। मरणोपरांत उन्हें अमेरिकी सरकार, पाकिस्तान तथा भारत की सरकार की ओर से अशोक चक्र से सम्मानित किया गया। अपनी बहादुरी से दूसरों के लिए प्रेरणा स्रोत बनी नीरजा की कहानी को फिल्मी परदे पर उतारने का काम राम माधवानी ने किया और नीरजा की भूमिका अभिनेत्री सोनम कपूर ने निभाई।

'अजहर' पूर्व क्रिकेट कप्तान मोहम्मद अजहरुद्दीन के जीवन पर आधारित है। एकता और शोभा कपूर द्वारा निर्मित इस फिल्म में अजहरुद्दीन की भूमिका इमरान हाशमी ने निभाई थी। एक आम युवा के लाखों लोगों के बीच स्टार बनने और फिर जिंदगी के कई उतार-चढ़ावों को देखने वाले इस नायक पर बनी फिल्म बॉक्स ऑफिस पर ज्यादा कुछ नहीं कर सकी। लेकिन बॉयोपिक के प्रति बढ़ते क्रेज की लिस्ट में जरूर शुमार हो गयी। कुछ ऐसा ही हाल रहा फिल्म सूरमा का जो हॉकी के प्रसिद्ध खिलाड़ी संदीप के जीवन पर आधारित थी। शाद अली के निर्देशन में बनी यह फिल्म भी परदे पर ज्यादा दिन तक दर्शकों को बाँध नहीं सकी। लेकिन महेन्द्र सिंह धोनी के जीवन पर आधारित एम. एस. धोनी : द अनटोल्ड स्टोरी' जरूर सफल बॉयोपिक में से एक रही। नीरज पांडे द्वारा निर्देशित इस फिल्म में सुशांत सिंह राजपूत ने धोनी की भूमिका निभाकर दर्शकों को एक बार फिर से अपने अभिनय कला से रू-ब-रू कराया। बॉक्स ऑफिस पर यह फिल्म अच्छी-खासी कमाई करने में भी कामयाब रही। इसकी वजह धोनी की बढ़ी लोकप्रियता भी थी। एक छोटे से शहर से निकलकर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनाने वाले धोनी करोड़ों युवाओं के लिए प्रेरणास्रोत बने। धोनी के अलावा पहलवान महावीर सिंह फोगट के परिवार पर बनी फिल्म 'दंगल' ने सफलता के नए कीर्तिमान स्थापित किए। फोगट पहलवानी का क्षेत्र जहाँ पुरुषों का वर्चस्व स्थापित था वहाँ अपनी बेटियों के बलबूते पहलवानी की नई पटकथा लिखता है। उनकी बेटियां बबीता और गीता फोगट पहलवानी के क्षेत्र में मेडल लाकर अपना नाम रोशन करती हैं और समाज को आईना दिखाती हैं कि महिलाएँ पुरुषों से किसी भी मायने में कमतर नहीं हैं। अभिनेता आमिर खान द्वारा निर्मित और नितीश तिवारी निर्देशित यह फिल्म भारत और विदेशों में भी सफलतापूर्वक प्रदर्शित हुई। इसी कड़ी में कुख्यात चन्दन तस्कर वीरप्पन के जीवन पर आधारित फिल्म वीरप्पन भी बनाई गई जिसे भारत के विभिन्न इलाके के सिनेमाघरों में प्रदर्शित किया गया।

धोनी के बाद देखते-ही-देखते सचिन तेन्दुलकर के प्रशंसकों ने भी उन पर फिल्म बना डाली। भारतीय क्रिकेट के 'भगवान' कहे जाने वाले तेन्दुलकर पर बनी फिल्म का नाम रखा गया 'सचिन : द बिलियन ड्रीम्स'। जेम्स अर्सकिन की यह फिल्म वर्ष 2017 में प्रदर्शित हुई थी। इसमें सचिन ने अपना किरदार खुद निभाया और उनके पुत्र अर्जुन तेन्दुलकर ने जूनियर तेन्दुलकर की। हाल के वर्षों में क्रिकेट और खेल जगत से इतर अन्य लोगों की जिंदगी भी बॉलीवुड की संस्कृति का अंग बनती रही है। अलीगढ़ के समलैगिंक प्रोफेसर श्रीनिवास रामचन्द्र सिरास के जीवन पर भी एक फिल्म बनाई गई जिसमें मनोज बाजपेई, राजकुमार राव और आशीष विद्यार्थी सरीखे कलाकारों ने भाग लिया। 'अलीगढ़' नाम से बनी इस फिल्म का निर्देशन हंसल मेहता ने किया था जिसमें उनके जीवन के उन पक्षों को सामने रखा गया जिसके कारण उन्हें समाज में अचानक यातना झेलनी पड़ी। उन्हें जान तक गँवानी पड़ी। समलैगिंक होने के कारण उन्हें विश्वविद्यालय की नौकरी से भी निकाल दिया गया। बॉयोपिक सिनेमा में आम चरित्र के अलावा खास चरित्र भी परदे पर सामने आए। इस तरह के चरित्र में राजनेता विजयाराजे

सिंधिया पर 'एक थी रानी ऐसी भी' और 'द ग्रेट लीडर कांशीराम' पर फिल्में बनीं। शिवसेना प्रमुख बालासाहब ठाकरे पर अभिजीत पांस ने 'ठाकरे' फिल्म बनाई। लेकिन क्रिकेट, बॉक्सिंग और धावक पर बनी फिल्म को जैसी सफलता मिली वैसी इन राजनेताओं पर बनी फिल्म को नहीं।

बॉलीवुड में बायोपिक फिल्म बनाने का फार्मूला कुछ ऐसा चल पड़ा कि 2016 के बाद 2017 और फिर 2018 में एक के बाद एक कई बॉयोपिक फिल्में बनीं। वर्ष 2018 में संजू जो संजय दत्त के जीवन पर आधारित थी और ऐतिहासिक चरित्र पद्मावती पर बनी 'पद्मावत' भी सुर्खियों में बनी रही। वर्ष 2019 का साल इस दिशा में और खास रहा क्योंकि इस दौरान खेल खिलाड़ी के अलावा ऐसी घटनाओं और चरित्र को भी आधार बनाकर फिल्में बनाई गईं जो आम जनमानस को प्रभावित कर सकें। इनमें 'उरी : द सर्जिकल स्ट्राइक', 'द एक्सीटेंडल प्राइममिनिस्टर,' 'मणिकर्णिका : द क्वीन ऑफ झाँसी', 'मेरे प्यारे प्राइम मिनिस्टिर', 'केसरी,' 'साँड की आँख,' 'सुपर 30' और 'आर्टिकल 15' आदि। इनमें प्रसिद्ध ऐतिहासिक चरित्र रानी लक्ष्मीबाई पर बनी फिल्म खूब चर्चित रही। यह सिलसिला आगे भी नहीं थमा बल्कि 2020 में भी इस कड़ी में कई और फिल्में आईं जैसे एसिड से पीड़ित लड़की पर आधारित छपाक, तन्हाजी : द असंग वैरियर, शकुंतला देवी और गुंजन सक्सेना : द कारगिल गर्ल। अगले साल भी यानी 2021 में भी ऐसी फिल्मों के निर्माण और प्रदर्शन का सिलसिला जारी रहा जिनमें कभी मुलायम सिंह यादव तो कभी बसपा प्रमुख मायावती को ध्यान में रखकर 'मैडम चीफ मिनिस्टर' तो कभी जयललिता पर 'थालवी' जैसी फिल्म बनी। ऐतिहासिक चरित्रों में मंगल पांडे, सरदार पटेल, पृथ्वीराज चौहान, शेरशाह और भारतीय क्रांतिकारी ऊधम सिंह पर 'सरदार ऊधम' और राजा रवि वर्मा की जिंदगी पर आधारित 'रंग रसिया' जैसी फिल्म बनाने का काम भी जारी रहा। इनमें कुछ सिनेमा घरों में प्रदर्शित हुई हैं तो कुछ का इंतजार है। खेल खिलाड़ियों पर बन रही फिल्मों में पहले विश्वकप विजेता के नायक रहे पूर्व क्रिकेट कप्तान कपिल देव पर भी एक फिल्म बनी जिसका नाम रखा गया '83'। जो ख्याति अब महेन्द्र सिंह धोनी को मिली है वही प्रसिद्धि एक समय में समाज में कपिल देव को भी मिली थी जिसे सिनेमा के परदे पर भुनाने का काम किया गया। इस फिल्म में कपिल देव का किरदार रणवीर सिंह ने निभाया है। इसके अलावा सायना नेहवाल और उनकी तरह अन्य खिलाड़ियों और समाज के विशिष्ट चरित्रों पर भी बायोपिक बनाने का काम हो रहा है।

इन सब जीवनियों को देखें तो बॉलीवुड में बायोफिक फिल्मों का सिक्का धीरे-धीरे जमता गया। इसके निर्माण में वर्तमान से लेकर इतिहास तक कई क्षेत्रों में ऐसे किरदार ढूंढे जाने लगे जो फिल्मी हो। जिनका चरित्र और जीवन परदे पर दर्शकों को पसंद आ सके। हाल के वर्षों में कई बायोपिक फिल्मों का निर्माण केतन मेहता ने किया और इसको लेकर मजबूत तर्क भी दिया। उन्होंने कहा कि बायोपिक फिल्में उन लोगों को मान्यता देने का साधन हैं जिन्होंने अपने समय में योगदान दिया है। बायोपिक की बहती गंगा में हाथ धोने का यह सिलसिला ऐसा चल पड़ा कि 2022 तक ऐसी बहुत सी फिल्मों के नाम बाजार में सामने आ गए हैं जिन पर फिल्म बनाने का काम तेजी से चल रहा है।

तेजाब हमले की शिकार लड़की लक्ष्मी अग्रवाल की जिंदगी पर आधारित मेघना गुलजार ने कुछ ऐसी ही एक और बायोपिक बनाने का जिम्मा लिया। इसमें मुख्य भूमिका दीपिका पादुकोण ने निभाया। सैन्य जगत में बहादुरी के कारनामे मीडिया की सुर्खियों में हैं। सेना में बहादुरी का प्रदर्शन करने वालों में विंग कमांडर अभिनंदन वर्धमान पर भी फिल्म बनाने की बात चल रही है। मानेकशा जो 1971 में भारत-पाकिस्तान युद्ध के हीरो थे उन पर आधारित फिल्म बनाने का काम तेजी से चल रहा है। कहने का मतलब यह कि समाज में ऐसे किरदार जिनको लेकर फिल्में बन सकती हैं यह काम अब बढ़-चढ़कर किया जा रहा है।

बॉलीवुड में अचानक आई इस तेजी और बदली हुई सिनेमाई संस्कृति को लेकर फिल्म विशेषज्ञ और संस्कृतकर्मी अपने-अपने ढंग से तर्क देते हैं। कुछ इसे जहाँ भेड़चाल मान रहे हैं तो कुछ इसे व्यवसाय से जोड़कर देखते हैं। कई लोग इस ट्रेंड या रुझान को फिल्म जगत में आए बदलाव की निशानी मानते हैं। कथाकार असगर वजाहत बॉलीवुड की दुनिया में इस बदले हुए रूप पर लिखते हैं, ''सौ साल बाद आज हिन्दी सिनेमा अपने स्वरूप और व्यवसाय में बिल्कुल बदल चुका है। आज से पचास साल पहले के हिन्दी सिनेमा के संबंध में स्थापित मान्यताएँ पूरी तरह टूट चुकी हैं।'' उनकी यह टिप्पणी आज सिनेमा जगत के बदले हुए मिजाज की ओर ही संकेत करती है जहाँ पिछले दस सालों में बायोपिक फिल्मों की बाढ़ सी आ गई है। हालाँकि, सभी इस तर्क से सहमत नहीं हैं। फिल्म विशेषज्ञ अजय ब्रहात्मज का कहना है कि अब तक जितनी भी बायोपिक बनी हैं वो ज्यादातर खेल और सेना से जुड़े या मशहूर लोगों पर बन रही हैं लेकिन ये सही मायनों में बायोपिक नहीं हैं। वह इस कड़ी में यह भी कहना नहीं

भूलते कि बॉलीवुड में हमेशा से ही भेड़ चाल रही है और उसे फार्मूला की जरूरत रही है। ब्रह्मात्मज से अलग फिल्म व्यवसाय से जुड़े अमोद मेहरा का कहना है कि अभी जितनी भी बायोपिक फिल्में बन रही हैं, उनमें से ज्यादातर खेल से जुड़ी हैं, जिनमें एक अंडरडॉग हीरो बन जाता है, ये पुराना फार्मूला है। फिल्म में इस तरह की कहानी पसंद की जाती है जिसके कारण ऐसे चरित्र को ध्यान में रखकर फिल्में बनाई जा रही हैं। उन्होंने कहा, 'भाग मिल्खा भाग' या 'मैरी कॉम' के बाद लगा था कि बायोपिक फिल्मों का दौर आएगा पर हाल-फिलहाल में बायोपिक फ्लॉप भी हुई हैं जैसे हॉकी प्लेयर संदीप सिंह पर बनी फिल्म 'सूरमा' और पूर्व क्रिकेट कप्तान अजहरुद्दीन पर 'अजहर'। इनसे बायोपिक्स के ट्रेंड में कमी आई है। हालाँकि उनकी यह भविष्यवाणी सही साबित नहीं हुई।

बॉलीवुड में बन रही फिल्मों को देखें तो ज्यादातर कहानी असली जीवन के किसी-न-किसी किरदार या घटना के इर्द-गिर्द ही है जिसे बायोपिक का नाम दिया गया है। आज इस तरह की फिल्में बड़ी संख्या में इस कारण से बन रही हैं क्योंकि दर्शकों का प्रोफाइल अब बदल सा गया है। इसका जिक्र करते हुए असगर वजाहत ने लिखा है, ''सिनेमा सच्चाई के करीब आया है। नये विषय और सोद्देश्य मनोरंजन ने फिल्मों को नयी गति दी है।'' उनकी इस बात पर गौर करें तो देखें कि जिस तरह से बायोफिक फिल्में बाजार में आ रही हैं वे सबके सब सिनेमा को सच्चाई से जोड़ती हुई नजर आती हैं। यहाँ जेसिका लाल मर्डर पर आधारित 'नो वन किल्ड जेसिका' हो या एसिड पीड़ित पर आधारित 'छपाक'। ये फिल्म प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तौर पर दर्शकों को प्रभावित करती हैं।

फिल्म की संस्कृति में आए बदलाव का एक बड़ा कारण तकनीक भी माना जा रहा है। तकनीक ने कम बजट में भी फिल्में बनाना मुमकिन कर दिया है। ऐसे में फिल्म निर्माता क्रिकेटर के अलावा उन चरित्रों को भी ध्यान में रखकर फिल्म बना रहे हैं जो समाज को गहरे तौर पर प्रभावित करते हैं। दशरथ माँझी हो या फिर तेजाब पीड़िता लक्ष्मी अग्रवाल या फिर मिल्खा सिंह, ये चरित्र समाज के उस तबके से आते हैं जो आर्थिक विपन्नता में भी प्रेरणा स्रोत बने हैं। इन पर बनी फिल्में आधुनिक तकनीक का ही नतीजा हैं। बकौल असगर वजाहत, नयी पीढ़ी अब किसी सच्चाई को दूर से नहीं देखना चाहती। आज की माँग यह है कि सच्चाई को इतना नजदीक से देखो कि वह पूरी तरह नजर आये। लो बजट फिल्मों का यही आधार है। वे बहुत अधिक भूमिका बनाने और यथार्थ को उलझा संस्करण में प्रस्तुत करने में विश्वास नहीं करतीं।' आज बॉलीवुड में फिल्म निर्माण का मुहावरा कई कारणों से बदल गया है। वजाहत कहते हैं, ''नये विषय, आज के लो बजट सिनेमा की कुंजी कहे जा सकते हैं। ऐसे विषय जो हमारे आसपास के हैं। ऐसे विषय जो हमें आंदोलित करते हैं। ऐसे विषय जिनकी गहराई में जाकर सोचने की जरूरत महसूस की जा सकती है।'' इनके इस विचार के आलोक में देखें तो बायोपिक हो या फिर आसपास घटित घटनाओं को आधार बनाकर निर्मित फिल्में यह दर्शकों को सच्चाई के करीब ले जाना चाहती हैं। उन्हें दूर नहीं रखना चाहती। यह नयी पीढ़ी के दर्शकों का सिनेमा है जो नये और प्रासंगिक विषयों को मनोरंजक तरीके से देखना चाहती है। क्रिकेट या दूसरे क्षेत्र की हस्तियों को केन्द्र में रखकर बनाई गई फिल्में अगर सफल होती हैं तो उसका कारण उसकी दमदार कहानी होती है। ऐसी कहानी या चरित्र जो दर्शकों के लिए प्रेरणा स्रोत या जीवन का कोई-न-कोई सबक बन सके। जिनका जीवन उतार-चढ़ाव भरा और कई मायने में समाज को झकझोर देने वाला रहा हो। बायोपिक की संस्कृति पहले भी रही है जिसके कारण ऐसी फिल्में हर दौर में बनती रही हैं जिसके केन्द्र में कोई-न-कोई ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र रहा है। अकेले महात्मा गांधी पर ही अलग-अलग दौर में विविध कोणों से फिल्म बनी है। हाँ, यह जरूर है कि आज की फिल्में परम्परा से कई मायनों में भिन्न है और विकसनशील भी। यह परम्परा का ही विस्तार है जो फिल्म के इतिहास में नित नए आयाम जोड़ रही है।

संदर्भ ग्रंथ

1. 'फिल्मक्षेत्रे-रंगक्षेत्रे', लेखक अमृतलाल नागर, संपा. डॉ. शरद नागर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002
2. 'नयापथ', जलेस की केन्द्रीय पत्रिका, संपादक मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, वर्ष 27, जनवरी-जून 2013, संयुक्तांक
3. 'मीडिया : अंतरंग पहचान', सम्पादक स्मिता मिश्र, भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली 94
4. 'हिन्दी सिनेमा : एक अध्ययन', डॉ. अनिरुद्ध कुमार सुधांशु, डॉ. अनुज कुमार तरुण, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली 53
5. https://ddeepak.in/10-best-biographical-movies-bollywood-release-year-2022
6. https://hi.wikipedia.org/wiki
7. https://www.hindustanreads.com/entertainment- news-in-hindi/bollywood-biopics-changed-the-trend-of-cinema
8. https://www.bbc.com/hindi/entertainment-49892429

नई कविता का पुनर्मूल्यांकन

—डॉ. राम चरण मीना

'प्रयोगवाद' और 'नई कविता' एक दूसरे से काफी निकट व संबंधित काव्यांदोलन हैं, किंतु मात्र इसी तर्ज पर इन्हें एक दूसरे का पर्याय मान लेना भी उपयुक्त नहीं। प्रयोगवाद जहाँ अज्ञेय के संपादकत्व में प्रकाशित 'तार सप्तक' के प्रकाशन काल (1943) से आरंभ माना जाता है तो वहीं सन् 1951 में दूसरे सप्तक के साथ ही नई कविता का नामकरण व अस्तित्व दोनों ही स्पष्ट तौर पर दिखने लग जाते हैं। ''अज्ञेय ने ही दूसरे सप्तक की भूमिका में इस काव्य प्रवृत्ति के लिए नई कविता नाम का प्रयोग किया।''[1] 1953 में प्रकाशित नए पत्ते से वहाँ नई कविता का विकास हमें दिखने लग जाता है तो वह 1954 में जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के संपादन में प्रकाशित 'नई कविता' में नई कविता अपने पूरे संभावित प्रतिमानों व पक्षों के साथ प्रकाश में आती जान पड़ती है। प्रयोगवाद से निकटता के चलते नई कविता को प्रयोगवाद का पूर्व पक्ष या प्रयोगवाद का ही एक विकसित रूप मान लेना भी अनुचित नहीं।

नई कविता की प्रवृत्तियाँ मात्र सप्तकों पर आधारित नहीं अपितु उससे कुछ व्यापक हैं। सप्तकेतर कवियों का योगदान भी इस काव्यांदोलन के लिए दिशाएँ निर्धारित करता रहा था। जीवन के संघर्ष उपयोग के प्रति केंद्रित व जीवन के प्रति आस्था रखने वाला यह काव्य मनुष्य को उसके संपूर्ण गुण-दोष व विषम परिस्थितियों के साथ स्वीकार करता चलता है। अतः नई कविता में परंपरा की नई व्याख्या विद्यमान है। यह नई स्वीकृति ही नई दृष्टि को भी जन्म देती है। आज की नई कविता में जीवन की पूर्ण स्वीकृति है। लघु मानवत्व की जो बात नई कविता में उठाई गई है, उसे भी जीवन की पूर्णता के ही संदर्भ में देखना होगा।[3] यथार्थवादी व मानववादी दृष्टिकोण नई कविता के कवियों को मिथ्या आदर्श की परिकल्पनाओं की जंजीरों में नहीं जकड़ता अपितु एक ऐसी बौद्धिक चेतना विकसित करने में सशक्त करता जान पड़ता है जो उसके भीतर की संवेदना व उसके परिवेश का नाना स्तरों पर समझ सकने में परिपक्व कर देता है। इसलिए रघुवीर सहाय 'अंत का आरंभ' में कह सके हैं :

पुण्य की पहचान लेने
तोड़ बंधन वासना के जब
तुम्हारी शरण आ

सार्थ के हुआ था जन्म मेरा
अधम कहकर क्यों दिया इतना निष्ठुर
उपलम्भ है यह अंत का प्रारंभ है यह।

'नई कविता' में क्षणवाद एक नए प्रकार की आधुनिक संवेदना को मुखरित करता है। यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षण को सत्य माना गया है। क्षण-बोध शाश्वत-बोध का विरोधी नहीं अपितु उसे प्राप्त करने की प्रक्रिया के रूप में उभरा है। क्षणों में ही जीवन के दर्शन कराने का प्रयास इस काव्य प्रवृत्ति में है। इसे अज्ञेय की 'मैंने देखा एक बूँद' या रघुवीर सहाय की 'आज फिर शुरू हुआ जीवन' जैसी कविताओं में देखा जा सकता है। क्षण को महत्त्व व प्रत्येक क्षण में शाश्वत जीवन के दर्शन नई कविता धारा को विशिष्ट घोषित करता है।

नई कविता में मनुष्य अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ प्रस्तुत है। यही इस काव्यधारा की मुख्य प्रवृत्ति भी रही कि यहाँ व्यक्ति समर्पित न होकर अपनी स्थिति के प्रति सतर्क है। नव मानव में व्याप्त अहं सामाजिक उन्नति से विमुख नहीं अपितु वह समाज के प्रति पूरी निष्ठा के साथ प्रस्तुत है। ''व्यक्ति सत्ता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर हुआ है। अज्ञेय और भारतभूषण अग्रवाल की कविताएँ 'नदी के दीप' और 'हम नहीं हैं दीप' इस संदर्भ में पढ़ी जा सकती हैं।''[4]

'आत्म-केंद्रीयता और व्यक्ति स्वातंत्र्य का अर्थ प्रायः समाज विमुखता से जोड़ दिया जाता है। इस अवधारणा के विरोध में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताएँ देखी जा सकती हैं। 'देश कागज पर बना नक्शा नहीं होता' कि एक हिस्से के फट जाने पर बाकी हिस्से उसी तरह साबुत बने रहें।' (कविता : देश कागज पर बना नक्शा नहीं होता) (खूँटियों पर टँगे लोग) नए कवियों ने बिंब' और भाषा के स्तर पर भी नए-नए प्रयोग किए। बिंब के महत्त्व को रेखांकित करने के लिए तो कवि केदारनाथ सिंह की तीसरे सप्तक के वक्तव्य में दी गई टिप्पणी ही पर्याप्त है, ''कविता में सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिंब विधान पर।''[5]

शमशेर की 'ऊषा' कविता में एक नए प्रकार का बिंब उभर आता है, जब वे कहते हैं, ''प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे''[6] साथ ही नए प्रतीकों, उपमानों की भी जरूरत इन कवियों को दिखाई पड़ती है। इसीलिए अज्ञेय कह डालते हैं, ''ये उपमान मैले हो गए हैं।'' (कविता : कलगी बाजरे की) तो, वही अज्ञेय नए सौंदर्यबोध तथा नए सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा की माँग करते हैं। वे पुरानी भाषा को अपर्याप्त मानकर भाषा के लिए नए संघर्ष की बात करते हैं। विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गए हैं।[7]

इसके अलावा नाटकीयता भी नई कविता का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' व रघुवीर सहाय की 'रामदास' जैसी कविताएँ एक भिन्न प्रकार की नाटकीयता से पोषित हैं, जो कविता को एक नायाब आयाम प्रस्तुत करती हैं। ''नई कविता ने अपने 'अंतर्ग्रंथन' द्वारा यह काव्य सिद्धांत प्रस्तुत किया है कि कविता में किसी सामान्य विचार भाव या धारणा का 'वक्तव्य' उतना नहीं होता, जितना एक स्थिति विशेष का नाट्यकरण अथवा नाट्यरूपातरण।''[8]

भाषा के आधार पर भी नई कविता अपने पूर्ववर्ती युगों से भिन्न है। इस युग की भाषा छायावादी युग की भाँति संस्कृतनिष्ठ एवं अमूर्त नहीं है बल्कि नई कविता की भाषा आम जनजीवन की भाषा है। यहाँ पर स्पष्टता, सरलता एवं प्रत्यक्ष बोधगम्यता को वरीयता दी गई है। वे शब्द जिनका प्रयोग हम दैनिक जीवन में बिना किसी पूर्वाभास के बस अभ्यास के आधार पर बोलते हैं, उन हर एक शब्दों का उसी रूप में कविता में प्रयोग हुआ है। और इसीलिए इस युग के कवियों ने नई कविता में जटिलताओं के होने के आरोप में उत्तर देते हुए कहा कि यह जटिलताएँ जीवन की जटिलताएँ हैं, कविता की नहीं। सरल शब्दों में यथार्थ को प्रस्तुत करती सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता इस मामले में ध्यातव्य है :

हल की तरह कुदाल की तरह
या खुरपी की तरह
पकड़ भी लूँ कलम तो
फिर भी फसल काटने मिलेगी नहीं हम को।

कविता–**'फसल'** (संग्रह–खूँटियों पर टँगे लोग, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

नारी के प्रति भी नई कविता में एक अलग प्रकार का दृष्टिकोण सामने आता है। जहाँ छायावादी कवियों ने नारी को सहचरी माता और देवी आदि रूपों में देखा और उसकी महिमा का गुणगान किया। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहने वाले कवि जयशंकर प्रसाद ने नारी के प्रति आस्था प्रकट करते हुए उसे कला, नृत्य, साहित्य और संगीत की प्रेरणा स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया है। वहीं नई कविता में नारी को कई रूपों में यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर नारी या तो संस्कृति की वाहिनी के रूप में गाँव में वास करने वाली है या फिर बौद्धिक धरातल पर तार्किक होने के

नाते इनसे विद्रोह करती हुई। नारी का एक और मध्यम वर्गीय स्वरूप भी कविता में सामने आया है जहाँ पर वह न संस्कृति को छोड़ पाती है और न पूर्णतः तार्किक हो पाती है और अपने जीवन को बोझ बनाकर संघर्ष में गुजारती है।

नई कविता के दौरान आस्था का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण रहा। नए कवियों का कहना था कि हमारा काव्य अगर अनास्थावादी लगता है तो इसलिए कि आज की सच्चाई यही है। उनके अनुसार, नई कविता वादों, विचारधाराओं, रूढ़ियों, सामूहिक निर्णयों पर झूठी आस्था का विरोध करती है। वह नियतिवादी भविष्य के भ्रम जालों और आशा के झूठे जंजालों पर विश्वास नहीं करती। नई कविता व्यक्ति के अपने विवेक पर आस्था व्यक्त करती है क्योंकि व्यक्ति का विवेक ही उसे सही दिशा दे सकता है न कि बाह्य सत्य। धर्मवीर भारती निजी विवेक के अतिरिक्त आस्था का और कोई बाह्य आधार नहीं स्वीकारते। अंधायुग का प्रत्येक पात्र आस्थाविहीन है। किसी को भी भविष्य पर भरोसा नहीं है। मनुष्य का भविष्य उसे मृत नजर आता है...केवल आत्महत्या ही उन्हें दर्शन, धर्म, कला, संस्कृति तथा शासन में व्यक्त होती नजर आती है।

यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित शासन व्यवस्था में/इस
पूरी संस्कृति में/दर्शन में धर्म में कलाओं में/आत्मघात
होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का।"

(काव्य नाटक–**अंधायुग**, धर्मवीर भारती)

नई कविता युग के कवियों ने प्रकृति प्रेम पर भी अपनी कलम चलाई परंतु प्रकृति को जिस रूप में इस युग के कवियों ने लिया वह पूर्ववर्ती युग से भिन्न था। छायावादी कवियों ने प्रकृति प्रेम का चित्रण अपनी कविताओं में स्वतंत्रता के भाव बोध के साथ किया क्योंकि गुलाम भारत में वे भौतिक रूप से इसकी अनुभूति नहीं कर सकते थे। परंतु नई कविता के युग में देश आजाद हो चुका था। पुराने मूल्य टूट रहे थे और तेजी से हो रहे औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के कारण प्रकृत का स्वरूप भी बदल रहा था एवं पर्यावरण अवक्रमित। इसलिए इस युग के कवियों ने प्रकृति को उसके वास्तविक स्वरूप में स्वीकारा है। केदारनाथ सिंह की कविता 'पानी की प्रार्थना' प्रकृति से स्थापित इसी नए तालमेल को अभिव्यक्त करती है।

अन्त में प्रभु
अन्तिम लेकिन सबसे जरूरी बात
वहाँ होंगे मेरे भाई बन्धु
यानि आपका मुँह लगा यह पानी
मंगलग्रह या चाँद पर
पर यहाँ पृथ्वी पर मैं
अब दुर्लभ होने के कगार तक
पहुँच चुका है

(कविता––**पानी की प्रार्थना**, केदारनाथ सिंह)

नई कविता स्वयं को किसी विषय से अछूता नहीं समझती। नई कविता समाज की वर्जनाओं और व्यक्ति की कुंठाओं से निकल कर स्पष्ट और कोमल अनुभूतियों को यथार्थ की कसौटी पर कस कर अभिव्यक्ति देती है। उसमें यदि आदर्श के प्रति लगाव नहीं है तो अनुभूति के प्रति ईमानदारी में भी कोई कपट नहीं है। नए कवियों ने आवाज उठाई, ''हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन कम-से-कम वाली बात हमसे न कहिए"। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास में एक महत्त्वपूर्ण बात कही, ''नई कविता इस सारे के सारे जीवन और गरबीली गरीबी का काव्य है जिसमें व्यक्ति की चेतना जीवन के सारे व्यापारों में, खेत-खलिहान में, नगर-गाँव में व्यापक धरातल पर व्यक्ति की अनुभूतियों को स्वर देती है। मर्यादा और आस्था इस साधारण व्यक्ति के लिए कोई मायने नहीं रखते।"

''ज्ञान और मर्यादा/उसका क्या करे हम
उनको क्या पीसेंगे?/या उनको खाएँगे?
या उनको ओढ़ेंगे?/या उनको बिछाएँगे?"

संदर्भ

1. 'आज का भारतीय साहित्य', प्रभाकर माचवें, साहित्य अकादमी, पृ॰ 403
2. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास', बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, पृ॰ 258
3. 'हिन्दी भाषा और साहित्य', डॉ. रामदरश मिश्र, पृ॰ 67
4. 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', डॉ. हरिचरण शर्मा, पृ॰ 64
5. 'तीसरा सप्तक', सं. अज्ञेय, पृ॰ 195
6. 'टूटी हुई बिखरी हुई', शमशेर बहादुर सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ॰ 13
7. 'दूसरा सप्तक', सं. अज्ञेय, पृ॰ 10
8. 'कविता के प्रतिमान', नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ॰ 31.

डॉ. राम चरण मीना
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110021
ई-मेल : rcmeenamlnc@gmail.com

हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त बाजार

–ममता देवी

हिंदी साहित्य का फलक काफी व्यापक है जिसमें गद्य-पद्य सभी कुछ समाहित है। इस लेख में हम साहित्य की विधाओं में बाजार की उपस्थिति को देखने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार का बाजार चित्रण हमें सहित्य में देखने को मिलता है। मानव समाज के प्रत्येक काल में बाजार का वर्णन किसी-न-किसी रूप में हमें मिलता है। चाहे वह समय प्राचीन काल हो या फिर आधुनिक काल। हिंदी साहित्य के इतिहास का मध्यकाल हो या गद्यकाल। चाहे वह कहानी में मौजूद हो या फिर नाटक में। सभी साहित्यिक विधाओं में बाजार की उपस्थिति हमें देखने को मिलती है। मध्यकालीन कविता के भीतर कबीर, सूर, तुलसी मीरा, धन्ना, पीपा और सेन इत्यादि अनेक संत कवियों के काव्य में भी बाजार की उपस्थिति दर्ज की गई है। इसका कारण यह है कि ये संत कवि उद्यमिता अर्थात् जातिगत रोजगार से जुड़े हुए थे। इन संत कवियों का अपना परम्परागत व्यवसाय था। कबीर जुलाहे थे तो रैदास चमार।

बाजार मनुष्य की छोटी-बड़ी सभी तरह की जरूरतों की पूर्ति करता है। जहाँ एक तरफ बाजार और मेलों के साथ आनंद और उल्लास जुड़ा हुआ है, तो वहीं दूसरी तरफ आत्मीय लगाव। प्राचीन समय में सामाजिक जीवन में वस्तु-विनिमय के द्वारा सुख-दुःख का आदान-प्रदान भी बाजार के माध्यम से ही हुआ करता था। बहू-बेटियों के ससुराल या मायके की खैर-खबर भी बाजार के माध्यम से ज्यादातर पूछ ली जाती थी । यह खैर-खबर लेने की प्रक्रिया मध्यकाल के अन्दर कबीर के काव्य में भी दिखाई पड़ती है। कबीर कहते हैं–

कि कबिरा खड़ा बाजार में सबकी पूछत खैर।
न कहू से दोस्ती न कहू से बैर ॥'

इस तरह कबीर सबकी खैर-खबर तो लेते ही हैं, साथ ही समाज में व्याप्त असमानता को मिटाने के लिए तत्कालीन समाज से अपील भी करते हैं :

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।
जे घर फूंकै अपना चले हमारे साथ ॥

दरअसल कबीर का मानना था कि यदि सत्ता का विरोध करना है तो आप संपत्ति के संचयन में मत पड़िए। क्योंकि जैसे ही आप संपत्ति का संचय करने लगते हैं, वैसे ही आप सत्ता के अधीन हो जाते हैं और उस सत्ता के खिलाफ आपका विरोध कमजोर पड़ जाता है। इसलिए उन्होंने सदैव संयमित जीवन व्यतीत करने की सलाह दी। कबीर के अलावा संत रविदास ने भी चमड़े के जूते बनाये और उन्हें बाजार में बेचकर अपना पालन-पोषण किया। आगे चलकर सूरदास ने भी अपने काव्य में गोपियों के द्वारा दूध-दही का क्रय-विक्रय बाजार में ही करवाया। उनकी गोपिकाएँ तो रोज प्रातःकाल में ही ब्रज से मथुरा के बाजार में दूध, दही, माखन और घी बेचने के लिए आया-जाया करती थीं। जिसका जिक्र हमें उनके साहित्य और लोक गीतों में भी मिलता है। यथा, ''दही बेचन को राधा चली कन्हैया जी को प्यारी लगी।'' वहीं दूसरी वही गोपिकाएं उद्धव को खरी-खोटी सुनाने से नहीं कतराती हैं। वे उद्धव पर व्यंग्य करते हुए आपस में कहती हैं कि–'आयो घोष बड़ो व्यापारी।' आगे चलकर मीरा ने भी कृष्ण की भक्ति में गोपियों के समान अडिग रहकर गाँव, गली और हाट-बाजार सभी जगह जाकर तत्कालीन रूढ़ियों को तोड़ा।

हिंदी साहित्य में कविता के साथ-साथ गद्य विधाओं का भी उदय हुआ और उनमें भी बाजार का चित्रण हमें देखने को मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 'अंधेर नगरी' नामक नाटक लिखा है जिसमें उन्होंने तत्कालीन बाजार की स्थिति और सामाजिक स्थिति को चित्रित किया है कि किस तरह से राजतन्त्र में भ्रष्टाचार व्याप्त है और देश की सत्ता अज्ञानी राजा के हाथों पर है। यथा,

अंधेर नगरी चौपट्ट राजा
टके सेर भाजी टके सेर खाजा

कबाबवाला : कबाब गरमागरम मसालेदार, चैरासी मसाला बहत्तर आँच का, कबाब गरमागरम मसालेदार, खाय सो होंठ चाटै, न खाय सो जीभ काटै। कबाब लो, कबाब का ढेर, बेचा टके सेर।

घासीराम : *चने जोर गरम-*
चने बनावैं घासीराम।
चना चुरमुर चुरमुर बौलै।
चना खावै तौकी मैना।
चना खायं गफूरन मुन्ना।
चना खाते सब बंगाली।
चना खाते मियाँ-जुलाहे।
चना हाकिम सब जो खाते।
चने जोर गरम-टके सेर।

नरंगीवाली : नरंगी ले नरंगी, सिलहट की नरंगी, बुटबल की नरंगी, रामबाग की नरंगी, आनन्दबाग की नरंगी। भई नीबू से नरंगी। मैं तो पिय के रंग न रँगी। मैं तो भूली लेकर संगी। नरंगी ले नरंगी। कैवला नींबू, मीठा नींबू, रंगतरा संगतरा। दोनों हाथों लो–नहीं पीछे हाथ ही मलते रहोगे। नरंगी ले नरंगी। टके सेर नरंगी।''[1]

बाजार की इस तरह की भाषा आज के विज्ञापन की भाषा को जन्म देती सी नजर आती है। समय के साथ-साथ बाजार का स्वरूप और मूल्य भी परिवर्तित हुए। धीरे-धीरे वस्तु विनिमय की जगह रुपयों ने ले ली। बाज़ार में वस्तुओं का तो क्रय-विक्रय होता ही है लेकिन अब मानव भी इस बाजार के क्रय-विक्रय का हिस्सा बन रहा है। पैसा ने मनुष्य को भी वस्तु समझकर व्यवसाय से जोड़कर बाजार में शामिल कर दिया है। मध्यकालीन समाज से ही मनुष्य की खरीददारी-बिक्री के संकेत मिलते हैं। पूँजीपति व्यक्ति को बाजार से खरीद कर उन्हें गुलाम बना लेता था और यह सिलसिला आज भी बना हुआ है। वर्तमान समाज में खासकर स्त्रियाँ और बच्चे इसका कुछ ज्यादा ही शिकार हो रहे हैं। आये दिन समाचार-पत्रों में मनुष्य के खरीद-बिक्री के मामले सामने आते हैं। उन्हें एक स्थान से ले जाकर दूसरे स्थान पर क्रय-विक्रय किया जाता है। कुछ को तो उनके अनजाने में ही बेच दिया जाता है, तो कुछ लोग भूख, गरीबी, लाचारी से मजबूर होकर बिक जाते हैं । केदारनाथ अग्रवाल अपनी कविता में कहते हैं :

बाप बेटा बेचता है,
भूख से बेहाल होकर ।
धर्म, धीरज, प्राण- खोकर ।
हो रही है अनरीति बर्बर ।
राष्ट्र सारा देखता है ।[2]

यहाँ पर कवि व्यक्ति की विवशता को बता रहा कि मनुष्य के पास जब खाने के लिए कुछ नहीं होता तो वह कभी- कभी खुद की संतान को भी बेचने के लिए विवश हो जाता है। समकालीन कहानी, उपन्यासों में व्यक्ति ही बाजारू बन जाता है। मजबूर होकर स्त्री अपना जिस्म बेचती हुई नजर आती है तो बाप अपना बेटा। यह कविता समाज का सच बयाँ कर रही है। आज बाजार में इंसान की अस्मिता से लेकर उसके अंग तक बेचे जा रहे हैं। दरअसल, यह बाजार शब्द बहुत ही व्यापक है, इसमें धन से सम्बन्धित वह सब कुछ समाहित है, जिससे पैसा कमाया जा सकता

है। फिर चाहे वह कोई वस्तु हो या फिर कोई व्यक्ति या जानवर। प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' में गाय का मोल-भाव देखने को मिलता है। गोदान में एक संदर्भ देखिये जहाँ पर गाय के मोल-भाव का चित्रण किया गया है। यथा, ''होरी ने आगे वाली गाय के पट्टे पर हाथ रख कर कहा, दुधार तो मालूम होती है। कितने में ली? भोला ने शान जमाई, अबकी बाजार तेज रहा महतो, इसके अस्सी रुपए देने पड़े। आँखें निकल गईं। तीस-तीस रुपए तो दोनों कलोरों के दिए। तिस पर गाहक रुपए का आठ सेर दूध माँगता है।...तुम तो ऐसी बातें करते हो होरी, जैसे हम-तुम दो हैं। तुम गाय ले जाओ, दाम जो चाहे देना। जैसे मेरे घर रही, वैसे तुम्हारे घर रही। अस्सी रुपए में ली थी, तुम अस्सी रुपए ही दे देना। जाओ।''[3] प्रेमचन्द के समय में वस्तु विनिमय की गुंजाइश थी। लेकिन यह अब ख़त्म सी नजर आती है, अब सब कुछ पैसा ही है।

प्रेमचंद की कहानियों में बात करें तो 'कफन', 'घास वाली', 'ईदगाह' इत्यादि कहानियों में बाजार का चित्रण देखने को मिलता हैं। 'ईदगाह' कहानी में बाजार के आदर्श व मानवीय स्वरूप का चित्रण किया गया है। लेकिन आज के समय में बाजार का स्वरूप बदल चुका है। जहाँ गाँव एक-एक पैसे के लिए तरस रहा है, वहीं शहर विज्ञापन की दुनिया में पड़कर बाजार का शिकार हो रहे हैं। व्यक्ति इस विज्ञापन की चकाचौंध भरी दुनिया में इस कदर आगे बढ़ता जा रहा है कि मानवीय संवेदना समाज से गायब होती जा रही है। व्यक्ति पैसा कमाने की होड़ में अपने घर-परिवार के लोगों को भूलने लगा है। रमेश उपाध्याय ने अपनी कहानी 'पानी की लकीर' में यह दिखाया है कि किस तरह से व्यक्ति के लिए पैसा और बाजार ही सबसे बड़ी चीज है। वह अपने आप को पैसे वालों को किस तरह बेच देता है और कहता है, ''जो आदेश आप देंगे मैं मान लूँगा। अब तो मन मर गया है—मरे को एक क्या और सौ क्या ?''[4]

आजादी के गोल्डन जुबली साल में,
बाजार से अपनी पसंद की चीज़ चुनने की आजादी
और आपकी पसंद वे तय करते हैं।
जिनके पास उपकरणों का कायाबल,
विज्ञापनों का मायाबल
आपकी आजादी पसंद है
उन्हें, चीजों का गुलाम बनाने की आजादी।'

बाजार में व्यक्ति टूट जाता है। बाजार को व्यक्ति नियंत्रित करता है न कि बाजार व्यक्ति को। लेकिन आज का समय बाजार का है जहाँ पर व्यक्ति की जमीन, सम्पत्ति, इज्जत, आबरू, लज्जा सब बिक जाता है। खासी भाषा के एक कवि पॉल लिन्दोह आदिवासी समाज पर हो रहे शोषण का विरोध करते हुए लिखते हैं कि—

बिकाऊ है हमारी अजीब, अदिम जनजातीय जड़ें
जो बिछा दी गयी हैं /प्रगति के पहिये के नीचे

बिकाऊ है, हमारे स्वाभिमान, मूल्य, कार्य, संस्कृति
हमारी लज्जा की अनुभूति।[5]

इस तरह से विकास के नाम पर व्यक्ति का सब कुछ दाँव पर लग रहा है। दूसरे देशों की बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ लोगों की जमीन हथिया रही हैं। इस भूमंडलीकरण के दौर में विश्वग्राम में शामिल होने के चलते जहाँ देश और समाज प्रगतिशील बन रहा है वहीं हम मानवीय मूल्यों से वंचित हो रहे हैं। समकालीन साहित्य बाजार के घेरे में पूरी तरह से पड़ा हुआ है। जैनेंद्र ने बाजार दर्शन नामक निबन्ध में बाजार और व्यक्ति दोनों के स्वभाव को दिखाया है। हिंदी साहित्य में बाजार का चित्रण काफी व्यापक फलक में हुआ है उस सबका जिक्र करना इस छोटे से लेख में संभव नहीं है।

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि व्यक्ति के लिए बाजार आवश्यक है, तो बाजार के लिए व्यक्ति और समाज। इन दोनों के साथ आपसी सामंजस्य बिठाकर रखने में ही भला है। जितनी जिसकी जरूरत हो उतना ही उसका उपयोग। देश और समाज के विकास के लिए बाजार और व्यापार भी आवश्यक है और समाज एवं उसके नैतिक मूल्यबोध भी। वर्तमान समय में बाजार का बदला हुआ स्वरूप हमारे समक्ष है। आज की इस डिजिटल दुनिया में विश्व भर की वस्तुएँ मौजूद हैं लोकल से ग्लोबल तक ।

संदर्भ ग्रन्थ

1. भारतेंदु हरिश्चन्द्र, नाटक, 'अंधेर नगरी'.
2. केदारनाथ अग्रवाल, कविता.
3. प्रेमचन्द, उपन्यास, 'गोदान', हिन्दी गद्य कोश
4. 'हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक संवेदना और मूल्यबोध', दयानिधि मिश्र, पृ॰ 119
5. वही, पृ॰ 113.

डॉ. ममता
चक दादनपुर हनुमान नगर झलवा
पोस्ट- सूबेदारगंज
जिला- प्रयागराज (उ.प्र.)
पिन कोड- 211015
मो. 9455624397

विमर्श : सन्दर्भ हानूश

—डॉ. पूनम सिंह

हानूश भीष्म साहनी का प्रथम महत्त्वपूर्ण नाटक है। इसमें पंद्रहवीं शताब्दी के एक ऐसे कुफ्लसाज की व्यथा-कथा है जिसने विषम परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए अपनी जवानी के सत्रह-अठारह वर्ष चेकोस्लोवाकिया की पहली मीनार घड़ी बनाने में खपा दिए। अंततः जब वह कलाकार अपने सृजन में सफल हुआ और वह घड़ी प्राग की नगरपालिका की मीनार पर लगाई गई तो बादशाह ने प्रसन्न होकर एक ओर देश का गौरव बढ़ाने वाले उस गरीब कलाकार को पुरस्कृत और सम्मानित किया तो दूसरी ओर उसकी दोनों आँखें निकाल देने का हुक्म भी दे दिया जिससे वह और घड़ियाँ न बना सके। और ऐसी स्थिति में न्याय-सत्ता और धर्म के ठेकेदार और व्यापारी अपने निहित स्वार्थों के लिए टाँग खिंचाई शुरू कर देते हैं और खामियाजा भुगतना पड़ता है बेचारे हानूश को। और ऐसे में सब गांधी जी के बन्दर बन जाते हैं जिनके आँख-कान खुले हैं और उनके होंठ सिले हैं। जिनके मुँह और कान खुले हैं, वे आँखों पर पट्टी बाँधे बैठे हैं और जिनके आँख और मुँह खुले हैं, वे कानों पर चटखनी लगाए बैठे हैं।

भीष्म साहनी ने इस किम्वदंती के तथ्य को तो प्रस्तुत किया ही है, साथ ही मध्ययुग में उपस्थित धर्मसत्ता और राजसत्ता के गठबंधन को भी स्पष्ट कर दिया है। धर्म और राज्य मिलकर जो अनर्थ कर सकते हैं, उसी को स्वाभाविक रूप में चित्रित कर दिया है लेकिन कथानक की तह और हानूश के जीवन में हस्तक्षेप करने वाली सत्ता की तह में जाने से पूर्व 'सत्ता-विमर्श' क्या होता है, यह जान लेना आवश्यक है। ''मानव सभ्यता का विकास संस्थानीकरण की प्रक्रिया द्वारा संभव हुआ है। यह प्रक्रिया निश्चय ही अधिक जटिल होती चली आ रही है। संस्थानीकरण की प्रक्रिया के इसी गुण के कारण सत्ता के विविध रूपों का उदय संभव हो सका। नाभिकीय परिवार सत्ता और समाज की प्राथमिक इकाई है। मानव समुदाय के संस्थानबद्ध होने की शुरुआत इन्हीं से होती है।'' प्राचीन समाज के टूटने पर राजसत्ता का जन्म होता है और राज्यसत्ता सामन्तवर्ग के शासन का साधन बनती है1 आज जबकि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संबंध अपने निहायत जटिल सन्दर्भों और दबावों के मध्य बन-बिगड़ रहे हैं, तब भूमंडलीकरण जैसी घटनाओं के बीच सत्ता का क्षेत्र विस्तार हुआ है और उसका स्वरूप भी बदला है। प्राचीन युग में भी हमें सत्ता के लोकतान्त्रिक स्वरूप के उदाहरण भी मिल जाते हैं। सत्ता का अभ्युदय समाज की आवश्यकता बन गई थी। कहना न होगा कि सत्ता समाज को नियंत्रित करने का साधन थी।

नियंत्रण के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है यद्यपि सत्ता के जितने विमर्श आज हो रहे हैं उनमें सत्ता और शक्ति का भेद कम हुआ है। इसलिए सत्ता के लिए समूचे पाश्चात्य चिन्तन में 'पावर' शब्द सर्वमान्य सा हो गया है, उत्तरआधुनिक परिप्रेक्ष्य में 'पावर डिस्कोर्स' में वैधानिक स्थिति की परिभाषा जटिल हो गयी है। फलस्वरूप, सत्ता के भीतर निहित 'शक्ति' का वैधानिक होना कतई जरूरी नहीं रहा, जिससे सत्ता शक्ति का ही पर्याय बनती जा रही है। ध्यान रखना चाहिए कि शक्ति संपन्न अपने लिए वैधानिकता जुटा लेता है।

समाजशास्त्री सी. राइट मिल्स के अनुसार सत्ता का अर्थ निर्णय लेने के अधिकार और दूसरों के व्यवहार का अपनी इच्छानुसार और उनकी इच्छा के विपरीत भी प्रभावित कर सकने की क्षमता है। सत्ता के सामाजिक सन्दर्भों की पड़ताल से हमें पता चलता है कि इसके भीतर प्रतिष्ठा, प्रभाव, प्रसिद्धि, क्षमता, ज्ञान, प्रभुता, शक्ति और प्राधिकार जैसे तत्त्व प्रवाहित होते हैं। सत्ता में जब कानून और नियमबद्धता प्रवेश करते हैं तब वह प्राधिकार का रूप ले लेती है।

सत्ता में चूँकि शक्ति निहित होती है और उसे संसाधनों के उपयोग का अधिकार प्राप्त होता है, इससे उसके भ्रष्ट होने या अपने हित में कार्य करने की संभावनाएँ प्रबल हो जाती हैं। सभ्यता के विकास के साथ सत्ता के माध्यम से अनेक हितों को साधने के लिए अनेक दबाव समूह पैदा हो जाते हैं जिससे संसाधनों का असमान वितरण होता है जिससे पूँजीवाद का जन्म होता है। और इस पूँजीवादी सत्ता में वे समूह जो असंगठित होते हैं या दबाव बनाने में असमर्थ, वे उपेक्षित कर दिए जाते हैं।

विश्व समुदाय में औद्योगिकीकरण के कारण मध्यवर्ग का उदय हुआ और आज भी यह मध्यवर्ग सबसे व्यापक है। राजनैतिक सत्ता के केंद्र में इसकी धमक हमेशा विद्यमान रहती है। मार्क्सवादी दृष्टि सत्ता को साधन के रूप में देखती है। सामाजिक समानता और वर्गविहीन समाज के निर्माण के लिए एक साधन। इस स्थिति की प्राप्ति के बाद वह सत्ता को त्याज्य मानती है लेकिन इसे स्वीकार कर पाना मुश्किल होता है, क्योंकि सत्ता जिस वर्ग के हाथ में होती है उसके अपने निहितार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। वैसे भी, सत्ता के दो स्वरूप हमेशा विद्यमान होते हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई दल सत्ता संपन्न है तो उसकी सत्ता दूसरे दलों की तुलना में ही द्रष्टव्य है, लेकिन उस दल के भीतर भी उसका एक नेता है तो उस दल की सत्ता उस दल के भीतर है। यहाँ हम प्रथम प्रकार की सत्ता को बाह्य और द्वितीय को आभ्यंतरिक सत्ता कह सकते हैं। इस तरह सत्ता के विभिन्न रूप हमारे सामने स्पष्ट होते हैं।

आज सत्ता का विमर्श अंततः सामाजिक सन्दर्भों के भीतर ही पैदा होता है। समाज के अभाव में शक्ति या सत्ता अपना अर्थ अर्जित करती प्रतीत नहीं होती। लेकिन समाज केवल मूर्त, ठोस और भौतिक अवयवों का समुच्चय भर नहीं होता वरन वह विचारों, भावों और अनेक सांस्कृतिक तत्त्वों-परम्पराओं, रूढ़ियों, विश्वासों, आस्थाओं का जटिल संबंध होता है। सत्ता की वैधानिकता समाज से जुड़ी है, लोकतंत्रीय प्रणाली में इसलिए एक दल के अपदस्थ होने पर जब दूसरा दल सत्तासीन होता है तब वह सर्वाधिक वैधानिक माना जाता है। इस तरह कोई भी सत्ता न तो पूर्णतः वैधानिक होती है और न ही अवैधानिक। इस तरह सत्ता में सत्ता-सहित और सत्ता-रहित ये दो वर्ग हमेशा बने रहते हैं।

आधुनिक समय में सत्ता का विध्वंसकारी स्वरूप ही हमारे सामने आता है जिससे वह अपना निहितार्थ सिद्ध करती है। सत्ता का भी अब 'खगोलीकरण' हो रहा है। अब एक ध्रुवीय संसार हम (one polar world) के निवासी हैं। सत्ता की केन्द्रीयता समान विकास-प्रक्रिया को नष्ट करती है। आज सत्ता के विभिन्न स्वरूप अपने लिए आधिकारिक शक्ति जुटाने का उपक्रम करते हैं, इसके लिए वे एक ओर समाज की शक्तियों का अपहरण करते हैं तो दूसरी ओर व्यक्ति के प्रतिरोध को भरसक दबाने के प्रयास भी।

सत्ता के बारे में आज जो भी विमर्श मौजूद हैं उनमें सत्ता का अपना भय बहुत कम ही उल्लिखित होता है। सत्ता अपनी शक्ति के बावजूद विभिन्न प्रतिरोधों से भयभीत रहती है और उनके दमन के लिए उन सभी उपायों, नियमों-कानूनों, दिशा-निर्देशों, सिद्धांतों की व्याख्या अपने अनुकूल करने का प्रयास करती है किन्तु जब इस साँचे के तहत भी उस विरोध को नहीं दबाया जा पाता, तब वह अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करती है–जिसमें हिंसात्मक कार्यवाही प्रमुख है जैसा कि हानूश नाटक में भी हुई। इस सत्ता ने हानूश के बाह्य जीवन और बाहरी परिवेश में ही हस्तक्षेप नहीं किया वरन इस सत्ता ने उसकी निजी और आंतरिक शक्ति को भी भंग कर दिया, और भंग करने के साथ उसकी 'सर्जनेच्छा' को मारने की कोशिश की गई और इस कोशिश में उसे आँखों से महरूम कर दिया गया ताकि वह दूसरी घड़ी न बना सके। आपातकाल में किन-किन समाजचेता रहनुमाओं के साथ क्या-क्या हो रहा था, यह जगजाहिर था और है। आपातकाल के जबड़े में बैठकर लिखा गया यह नाटक इस बात की पुष्टि भी कर देता है। इसलिए यह नाटक औपचारिक रूप से भले ही मंच पर खत्म हो जाता है पर

दर्शक के भीतर एक लम्बे समय तक जारी रहता है और उसे सत्ता के दोहरे चरित्र और उसके स्वार्थी चेहरों के प्रति खबरदार भी करता है। जो समाज और साहित्य के बारीक और द्वंद्वात्मक संबधों को मानते हैं उन्हें मानना होगा कि लेखक के मन में पल रहे इस नाटक को इस दौर में सत्ता के निरंकुश स्वरूप की बर्बरता ने जरूर उकसाया होगा।

चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग की एक मीनारी घड़ी के बारे में प्रचलित तरह-तरह की कहानियों में वर्णित घटना को आधार बनाकर भीष्म साहनी ने अपने इस नाटक में एक मानवीय स्थिति के तीखेपन को हमारे अनुभव का केंद्र बनाया। हानूश नाम के एक साधारण कुफ्लसाज पर घड़ी बनाने की धुन सवार होती है। जीविका के भयानक संकट से गुजरते हुए उसके परिवार की पृष्ठभूमि में इस धुन को महज एक खब्त से ज्यादा कुछ भी मानने को कोई तैयार नहीं होता। स्वयं उसकी पत्नी क्षुब्ध होकर कह उठती है, ''इसने घड़ी नहीं बनाई तो क्या दुनिया का कारोबार बंद हो जाएगा? घड़ियाँ बनाने का शौक था तो फिर ब्याह नहीं करना चाहिए था''[2] सत्रह साल तक लगातार खब्ती तथा एक गैर-जिम्मेदार पति और पिता समझे जाने वाले हानूश की यह धुन एक दिन उपलब्धि की महत्त्वपूर्ण घड़ी के रूप में सामने आती है और तब जहाँ एक ओर उसे पहली घड़ी बनाकर मुल्क की रौनक बढ़ाने के लिए सम्मानित किया जाता है, वहीं दूसरी ओर मुल्क के बादशाह द्वारा उसे अपनी आँखों से सिर्फ इसलिए वंचित कर दिया जाता है कि वह कोई दूसरी घड़ी न बनाकर उससे किसी अन्य मुल्क की वैसी ही रौनक बढ़ाने का खतरा पैदा न कर सके।

आज जब सत्ताओं के साथ राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न मानवघाती अहमन्यता का रूप लेता जा रहा है, हानूश नाटक का कथ्य स्थितियों की विडंबना पर पहले से भी ज्यादा प्रकाश डालने वाला साबित होता है। नाटक के घटना-तथ्यों की प्रासंगिकता यह है कि आज तथाकथित राष्ट्रवाद के मानवद्रोही चरित्र की भी पहचान कराने वाले संकेत उनमें छिपे हैं। हानूश की नियति हमारे मन में एक सवाल यह भी उठाती है कि किसी कलाकार या वैज्ञानिक या तकनीकी हुनरमंद को अंततः जो भी गौरव या सम्मान दिया जाता है, उसके पीछे उसे वह सब देने वाली सत्ताओं की वास्तविक नीयत क्या होती है? जो भी आदर किसी प्रतिभाशाली सर्जक को मिलता है, वस्तुतः क्या वह उसके उस व्यापक मानवीय स्फुरण के लिए उसे मिलता है जो उसकी प्रतिभा को नया कुछ रच पाने या खोज पाने की प्रेरणा दे रहा होता है? अथवा यह आदर उसे इस बात के लिए मिलता है कि उसकी रचना एक विशेष वर्ग या समाज या सत्ता द्वारा खुद की अहमन्यता को पोषित करने के लिए खुराक के तौर पर इस्तेमाल की जा सकती है या कि उसके बल पर दूसरों पर बेमानी रौब गांठा जा सकता है। दूसरे अंक के अंतिम दृश्य में महाराज का यह कथन इन्हीं सवालों से संदर्भित है–''खूब मतलब कि हमारा घड़ियाँ और शहरों में भी लगेंगी तो इस घड़ी की अहमियत ही क्या रह जाएगी, नदी के पार का तुला राज्य हमारा दुश्मन है। हमारी घड़ी उस राज्य में भी लग सकती है, क्यों ?''[4]

कभी धर्म और कभी सत्ता का मुँह जोहने के लिए मजबूर कर देने वाली स्थितियों में रचनाशील प्रतिभा के व्यापक मानवीय स्फुरण को खुलकर श्रेय दे सकने का साहस बहुत कम देर ही ठहर पाता है और जिनमें ठहरता भी है, उनमें अधिकांश प्रायः वे ही व्यक्ति होते हैं जिन्होंने अपने हुनर के लिए अपनी मेहनत को अंत तक एक अर्थवान शक्ति के रूप में पूरी शिद्दत से महसूस कर पाने का सुखद कष्ट उठाया है। हानूश के सहयोगी लोहार के चरित्र में भीष्म साहनी ने एक ऐसी ही श्रमनिष्ठ रचनाधर्मी इकाई को प्रस्तुत किया है। गिरजे से आर्थिक सहायता के लिए हानूश की दरख्वास्त नामंजूर हो जाने पर हानूश हारकर जब यह पक्का फैसला कर लेता है कि ''बाकायदा धंधा-वंधा करूँगा क्योंकि घड़ी बनाने की धुन में अब तक घर वालों को बड़ी तकलीफ में रखा है'' तो लोहार ही उसका हौसला बढ़ाता है–''दरवाजा खटखटाने वाले का दिल पुख्ता होना चाहिए, दरवाजों की तो कमी नहीं हैं।''[5] लोहार का यह कथन हानूश के हताश क्षणों में एक अनुभवी सहयोगी के भावुक उद्‌बोधन की फर्ज-अदायगी मात्र नहीं है। वक्त देखकर वक्त को अपने साथ करने की समझदार सीख है यह।

रचना के लिए किसी तरह रूप ले लेना ही अंतिम और आवश्यक शर्त नहीं है, रचना-प्रक्रिया का खुलापन और खरेपन के लिए धर्म-भीरुता या सत्ता-भीरुता से बड़ा दूसरा खतरा भला क्या होगा ? लोहार की कुछ सलाहों जैसे ''तुम फिर लाट-पादरी के पास अपनी दरख्वास्तें भेजो पर भले ही भगवान की चलती हो लेकिन नीचे केवल लाट-पादरी की चलती है। इसमें बेशक किसी को चाटुकारिता या अवसरवादिता के समर्थन की गंध मिले, पर वस्तुतः यह उस शुभ उत्साह का सहज उच्चश्रृंखलन है जो हर कीमत पर रचना-प्रक्रिया को गतिमान बनाये रखने के प्रति समर्पित है।

नाटक के दूसरे और तीसरे अंकों के दृश्यों में उन छिपे हुए पंजों की नोंचने वाली बनावट को विस्तार से विश्लेषित किया गया है जो धर्म, समाज और राजनीति, सबके सत्तालोलुप हाथों में प्रायः एक से ही होते हैं। फायदा उस

पक्ष को मिलता है जो अन्य दो व्यक्तियों को आपस में पंजा लड़ाकर जोर-आजमाइश के लिए उकसाए और खुद अपने पंजों को साधनहीन लोगों पर गड़ाकर अपनी मजबूरी का सबूत दे। हानूश के साथ मुल्क के बादशाह का यही सलूक होता है। "बादशाह सलामत ने नगरपालिका की माँग भी मंजूर कर ली और धता भी बता दिया, उधर हानूश को अँधा बनाकर गिरजे वालों को भी खुश कर दिया, एमिल।"[6]

इस कठिन क्रूर तंत्र से निजात पाने की हानूश की हर कोशिश बेकार जाती है। हानूश द्वारा हर तरह के प्रयत्न अंदाजे जाते हैं, घड़ी फोड़ने से आत्महत्या तक के। मौका मिलने पर अपने सृजन के प्रति अंतरिम लगाव घड़ी को फोड़ने न देकर उसे अनायास ही ठीक करा देता है। देश छोड़ने भागने की योजना को सत्ता के खुफिया भाँप लेते हैं। अब विवश होकर व्यक्ति हानूश तो सत्ता की चक्की में पिसेगा ही, पर कला कैसे 'कीलित' रह जाए। हानूश और भीष्म साहनी इस चुनौती को झेलते हैं और हानूश के सहयोगी- शागिर्द को दूसरे देश में भेजने में सफल हो जाते हैं और यही श्रमजीवी कलाकार की सबसे बड़ी आश्वस्ति है। अब वह अपनी कला-चेतना को मुक्त कर पाने के बाद निडर हो जाता है तब उसकी अभिव्यक्ति इस रूप में व्यक्त होती है–"महाराज का हुक्म सिर-आँखों पर। मैं हाजिर हूँ। घड़ी बन सकती है, घड़ी बंद भी हो सकती है, घड़ी बनानेवाला अँधा भी हो सकता है, मर भी सकता है, लेकिन वह बहुत बड़ी बात नहीं है। जेकब चला गया ताकि घड़ी का भेद जिंदा रह सके और यही सबसे बड़ी बात है।"[7] जाहिर है कि उसे अब अपने मरने की फिक्र नहीं। तभी वह इस प्रकार ललकार सका सत्ता को। हानूश की मुक्त चेतना ऐलान करती है–"अब मुझे कोई अफसोस नहीं। किसी बात की चिंता नहीं। अब मुझे विश्वास है कि घड़ी कभी बंद नहीं होगी।"[8] रचनाकार की यह सृजनेच्छा, मानवीय अस्मिता और भविष्य में निष्ठा स्वयं भीष्म साहनी की पहचान हैं।

हानूश में सत्ता के जिन पक्षों की ओर संकेत है, उनमें सामाजिक संबंध प्रमुख है। सत्ता मनुष्य के अंतरतम का तिरस्कार कर देती है, उसकी आंतरिक यातना के प्रति वह सर्वथा उदासीन होती है और इस उदासीनता के फलस्वरूप भी उसकी आँखें निकालने का ऐलान कर देती है। सत्ता का यह अपना भय ही उसे समझौतावादी बनाकर कल्याणकारी कार्यों से विमुख कर देता है। वह अपने अस्तित्व के लिए इतनी चिंतित और क्रियाशील हो उठती है कि उसे अपने प्रमुख उद्देश्य, मानव कल्याण से विमुख होना पड़ता है। मनुष्य की निजता, सत्ता द्वारा लिए गए निर्णयों से अनिवार्यतः प्रभावित होती है। वे निर्णय चाहे शांति के नाम पर लिए गए युद्ध के निर्णय हों या कानून-व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर आपातकाल लागू करने के, या दूसरे राज्यों में अपना दबदबा कायम करने के।

हानूश के ऊपर हुए अत्याचार हर उस सर्जक की नियति होती है जो किसी मौलिक उद्भावना को स्थापित करने का प्रयास करता है। लेकिन इस उद्भावना के कारण समाज की सभी चीजें उसके सामने विकराल रूप धारण कर खड़ी हो जाती हैं। वह उन सभी समस्याओं का सामना करता है और अंततः सफल भी होता है। वह शासन द्वारा प्रताड़ित और विक्षुब्ध कलाकारों का वर्ग-सत्य प्रस्तुत करता है। एक गरीब कलाकार का हर कोई हर जगह शोषण ही तो करता है। अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त किसी भी कलाकार की स्थिति हानूश से भिन्न नहीं होती। हर कलाकार को हानूश की तरह समझौता करना ही पड़ता है। समझौता तो आम आदमी भी अपनी जिन्दगी में करता है इसलिए यह पीड़ा, यह अनुभूति आम आदमी की भी है, क्योंकि समझौतों का नाम ही तो जिन्दगी है। हानूश को समझौते के फलस्वरूप मिला मानसिक असंतुलन और आँखें गँवाना आदि। आज भी वैसी ही स्थिति है लेकिन आज की अदा और अदायगी कुछ और है।

संदर्भ

1. 'मानव सभ्यता का विकास', रामविलास शर्मा, पृ. 46
2. हानूश, भीष्म साहनी, प्रथम संस्करण, 1977, पृ. 27
3. आलोचना, सं नामवर सिंह, भीष्म साहनी स्मृति अंक 17-18, 2004, पृ॰ 163
4. हानूश, भीष्म साहनी, प्रथम संस्करण 1977, पृ. 86-87
5. वही
6. वही
7. वही, पृ. 127
8. वही, पृ. 102
9. 'समाजशास्त्र : समस्या और साहित्य का अध्ययन', टी.बी बाटमोर (अनु. गोपाल प्रधान), ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92, प्रथम हिन्दी संस्करण 2004

डॉ. पूनम सिंह

सहायक प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रयोगवादी काव्य और अज्ञेय

–रश्मि मिश्रा

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय आधुनिक हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य साहित्यकार के रूप में जाने जाते हैं। सन् 1943 में उन्होंने तारसप्तक का सम्पादन किया, जो प्रयोगवाद का आरंभ माना जाता है। इस तारसप्तक में अज्ञेय जी को लेकर सात कवि सम्मिलित हैं, जिनकी रचनाएँ इसमें संकलित थीं। हालाँकि, प्रयोगवाद शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम नंददुलारे वाजपेयी जी ने ''प्रयोगवादी रचनाएँ'' शीर्षक के निबंध में किया, लेकिन इसको एक वाद के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय अज्ञेय को जाता है।

हालाँकि, अज्ञेय का मानना है कि 'प्रयोगवाद कोई वाद नहीं है' प्रयोगवाद (जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है कि इसमें प्रयोग की उपयोगिता है) के सम्बन्ध में अज्ञेय तारसप्तक की भूमिका में लिखते हैं कि प्रयोगवादी कवि 'राहों के अन्वेषी हैं' अर्थात् ये कवि पुराने परम्परागत राहों के राही नहीं, बल्कि नवीन अनगढ़ रास्तों का अन्वेषण कर एक नई राह तलाश करने वाले कवि हैं। प्रयोगवादी कवि इसलिए भी प्रयोगवादी हैं क्योंकि वे किसी निश्चित तथ्य या सत्य तक पहुँचने का दावा नहीं करते ना ही वे अपनी कविताओं के द्वारा या उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने का आश्वासन देते हैं। बल्कि, उनका मानना तो यह है कि वर्तमान समय में मनुष्य की अनुभूतियाँ पहले से अधिक विसंगतिपूर्ण तथा जटिल होती चली जा रही हैं। इन विसंगतिपूर्ण अनुभूतियों के अभिव्यक्ति के लिए पुराने काव्य शिल्प तथा उनके घटक असमर्थ हैं। परिणामतः, प्रयोगवादी कवि उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए, अपने लिए नवीन राहों के अन्वेषण अर्थात् नये शिल्प, प्रतीक, नये उपमान आदि की तलाश में हैं। ये नवीन शिल्प, प्रतीक तथा उपमान ऐसे होने चाहिए, जो वर्तमान की जटिलता तथा विडम्बनापूर्ण अनुभूति के अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हों।

डॉ. शम्भुनाथ सिंह के अनुसार, ''प्रयोगवाद उस काव्य-प्रवृत्ति का नाम है जो छायावाद युग की समाप्ति के बाद प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति के समानान्तर या उसके साथ मिलकर नवीन और साहसपूर्ण काव्य प्रयोगों को अपनाकर अग्रसर हुई थी।''[1] प्रयोगवादी काव्य से पहले छायावादी काव्यधारा में भी प्रयोग की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। भारतेंदुयुगीन एवं दिवेदीयुगीन काव्य की प्रवृत्तियों से छायावाद ने स्वयं को मुक्ति दिला दी थी तथा धीरे-धीरे नये विद्रोह का स्वरूप भी

स्थापित कर लिया। छायावाद में ही प्राचीन मान्यताएँ टूटने लगी थीं साथ ही परम्परागत रूढ़ शास्त्रीय रूढ़ियों की जगह नवीन छंद, भाषा, शिल्प आदि का प्रयोग प्रारंभ होने लगा था। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत जो उतार- चढ़ाव सामाजिक राजनैतिक क्षेत्र में आए, वे साहित्य के क्षेत्र में नये संदर्भों, शिल्पों तथा शैलियों की अभिव्यक्ति के कारण बन गए, तथा यही कारण छायावाद और प्रगतिवाद के प्रति विद्रोह की आधारभूमि सिद्ध हुए। प्रयोगवाद का उद्‌भव इसी विद्रोह से प्राप्त परिणाम माना जाता है। प्रयोगवाद की दृष्टि व्यैक्तिक मानी जा सकती है, क्योंकि स्वयं अज्ञेय व्यक्ति की महता को स्वीकार करते हैं

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा।
हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के
किन्तु हम बहते नहीं है क्योंकि बहना रेत होना है[2]

प्रयोगवाद नई परम्परा और नवीन दृष्टिकोण के हेतु राहों का अन्वेषण करता है। इस अन्वेषण के परिणामतः 'अंधायुग', 'संशय की एक रात' और 'आत्मजयी' आदि जैसी कालजयी काव्यों का सृजन हुआ। प्रयोगवाद का विरोध रूढ़ि से है, न कि परम्परा से। प्रयोग का मानना है कि परम्परा जड़ नहीं होती बल्कि उसमें गत्यात्मकता का गुण होता है। इस मान्यता का तो उदाहरण है, ये उपर्युक्त रचनाएँ, जिनमें प्राचीन कथा और प्रसंग को नये संवेदना के साथ प्रस्तुत किया गया है, प्रयोगवाद अपने आप में एक प्रखर वेग के साथ सामने आया था। प्रयोगवाद के सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र का कहना है, ''प्रयोग तो प्रत्येक युग में होते आये हैं, किन्तु 'प्रयोगवाद' नाम उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया है, जो कुछ नये बोधों, संवेदनाओं तथा उन्हें प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरू-शुरू में 'तारसप्तक' के माध्यम से सन् 1943 में प्रकाशन जगत में आयीं, और जो प्रगतिशील कविताओं के साथ विकसित होती गयीं तथा जिनका पर्यवसान नयी कविता में हो गया।''[3]

प्रयोगवादी कवियों ने अपने तत्कालीन परिस्थितियों में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी व्यक्ति को जो निराशा, अकेलापन, संशय, घुटन, आक्रोश और अनास्था आदि की अभिव्यक्ति बड़े सहजता से की है। 'प्रयोगवादी कविता ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय समाज के जीवन का चित्र है। प्रयोगवादी कवि ने जिन नये सत्य के शोध और प्रेषण के नये माध्यम की खोज की घोषणा की थी, वह सत्य इसी मध्यवर्गीय समाज के व्यक्ति का सत्य था।''[4]

प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि पर कई प्रभाव भी देखे जाते हैं जिनके प्रभाव से प्रयोगवाद एक सजग काव्यधारा के रूप में सामने आया। प्रयोगवाद पर परिवेशगत प्रभाव भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक चेतना तथा पश्चिम और पूर्व के कवियों एवं विचारकों का प्रभाव मुख्यतः देखा जा सकता है। प्रयोगवाद पर पड़े इन प्रभावों को हम मुख्य रूप से अज्ञेय की कविताओं, कहानियों एवं उपन्यासों, तथा उनके विचारों में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। अज्ञेय ने प्रयोगवाद में मानवीय व्यक्तित्व और उसकी सर्जनात्मकता पर विशेष बल दिया है। इस बात को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए की अज्ञेय अपने सर्जनात्मकता को लेकर किस प्रकार की दृष्टि रखते हैं हम इनकी निम्न काव्य पंक्तियों में देख सकते हैं :

एक क्षण-भर और :
लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।
बूँद स्वाति की भले हो
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
वज्र जिससे फोड़ता चट्टान को।
भले ही फिर व्यथा के तम में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता रूप को पकते।[5]

इस तरह अनुभव की अद्वितीयता, व्यक्ति का वैशिष्ट्य और सर्जनात्मक क्षमता मानवीय अस्तित्व और उसकी सार्थकता के यही मूल उपादान हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि छायावादोत्तर काल में विचारों को कविता में प्रतिष्ठित करने का सबसे प्रथम प्रयत्न अज्ञेय जी का है। अपने कवि बन्धु को संबोधित करते हुए वे लिखते हैं :

सुनो कवि। भावनाएँ नहीं हैं सोता
भावनाएं खाद हैं केवल
जरा उनको दबा रखो
जरा-सा और पकने दो
ताने और तचने दो।

अज्ञेय की कविताओं में भावना का यह पका हुआ रूप प्राप्त होता है। उनका चिंतन रूप उनकी कविताओं में सर्वत्र उभरा हुआ है। यह चिन्तन ही कवि को दार्शनिक और रहस्यवादी व्यक्तित्व प्रदान करता है।

अज्ञेय एक बड़े रचनाकार हैं और बड़े रचनाकार की पहचान इस बात से होती है कि उसने अपने युग जीवन की केन्द्रीय समस्या को कितनी दूर तक पहचाना है और

अज्ञेय अपने इस मूल्यांकन में सफल होते दिखाई देते हैं। प्रयोगवाद अज्ञेय की बौद्धिक विशिष्टता की सर्जना है इसलिए प्रयोगवादी काव्य की बात हम अज्ञेय से परे नहीं कर सकते।

अज्ञेय ने प्रयोगवादी काव्य की प्रतिष्ठापन अपने द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही किया इसलिए तारसप्तक को हम प्रयोगवादी काव्य का मूल मान सकते हैं। अज्ञेय की सर्जना और व्यक्तिवादी संबंधी विचारो को हम तारसप्तक में भी पाते हैं। हम देखते हैं कि ''तारसप्तक के आयोजन में यदि एक पक्ष सर्जनात्मक वैचारिकता का है तो दूसरी ओर सहभागी कवियों के प्रबल वैचारिक मतवाद भी हैं। अधिकतर की निष्ठा साम्यवादी विचारधारा में है जो फिर धीरे-धीरे ढीली पड़ती है। सर्जन और मतवाद को क्रमशः एक संतुलन पा लेना होता है, जो प्रयोगशील कविता का प्रमुख वैशिष्ट्य कहा जा सकता है।''

वस्तुतः, अज्ञेययुगीन विघटन को देखते हुए नये मूल्यों की आवश्यकता का अनुभव करते हैं और उनकी स्थापना का प्रयास भी करते हैं। इन्हीं नये मूल्यों का प्रतिष्ठापन अपने प्रयोगवादी काव्यों में करने का और प्रयोगवादी अन्य कवियों को भी नये मूल्यों और विचारों को अपनाने का आग्रह करते हुए दिखाई देते हैं।

सन्दर्भ

1. 'प्रयोगवादी काव्य', डॉ. पवन कुमार मिश्र, पृ. 13
2. 'नदी के द्वीप अज्ञेय : अज्ञेय काव्य स्तबक', सं. विद्यानिवास मिश्र, रमेश चंद शाह, पृ. 143
3. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं. डॉ. नागेन्द्र, पृ. 610
4. वही, पृ. 611
5. 'सर्जना के क्षण' : अज्ञेय काव्य-स्तबक, सम्पादक : विद्यानिवास मिश्र, रमेशचन्द्र शाह, साहित्य अकादमी, पृ. 181
6. 'हरी घास पर क्षण भर, (कविता, हुआ क्या फिर)

रश्मि मिश्रा

पीएच.डी. (हिन्दी)

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

ईमेल : rashmritu905@gmail.com

मो.नं.-9520089601

उन्नीसवीं शताब्दी की स्त्री-शिक्षा-व्यवस्था और सावित्रीबाई फुले

—रानी कुमारी

जोतिबा फुले ने दलित स्त्रियों की शिक्षा के प्रयास किए। अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले को शिक्षित किया। सावित्रीबाई फुले ने स्त्री-शिक्षा को लेकर जो प्रारंभिक संघर्ष किए, वह उन्नीसवीं शताब्दी में किए जा रहे भारतीय बौद्धिकों, ईसाई मिशनरियों और ब्रिटिश सरकार द्वारा किए जा रहे प्रयासों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। सावित्रीबाई फुले ने जिस चेतना का संचार किया, जिस आंदोलन का विस्तार किया, वही आंदोलन और उनकी चेतना आज विमर्श के केंद्र में है। इन संदर्भों में दलित स्त्रीवाद नवीन अवधारणा है। दलित स्त्रीवाद की चेतना-भूमि महात्मा बुद्ध, फुले दंपत्ति और बाबा साहब के विचारों द्वारा तैयार की गई है।

सावित्रीबाई फुले को भारत की प्रथम शिक्षिका होने का गौरव प्राप्त है। 3 जनवरी, 1831 को महाराष्ट्र के सतारा जिले के नायगाँव में सावित्रीबाई का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम खंडोजी नेवसे और माता का नाम लक्ष्मीबाई था। 1840 में 9 वर्ष की सावित्री बाई की शादी 13 साल के जोतिबा से हुई। सगुनाबाई क्षीरसागर के प्रयास से 1843 में जोतिबा फुले नॉर्मल मिशन स्कूल में पढ़ने लगे। जोतिबा बेहद परिश्रमी और मेधावी छात्र थे। इसी दौरान जोतिबा फुले को ये महसूस हुआ कि सावित्रीबाई को भी पढ़ना चाहिए। जीवनसाथी के समझाने पर सावित्रीबाई पढ़ने के लिए राजी हो गईं। सावित्रीबाई फुले की शिक्षा में उनके जीवनसाथी जोतिबा फुले का जितना योगदान था, उतना ही उनकी दृढ़ सोच की भी भूमिका थी। अपने जीवनसाथी से प्रेरणा लेकर सावित्रीबाई न केवल पढ़ीं बल्कि उन्होंने समाज के अन्य वर्गों की स्त्रियों को भी शिक्षा दी। यह काम इतना सरल नहीं था। वह भी ऐसे समय में जब दलित-पिछड़े तो क्या सवर्ण महिलाओं को भी शिक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं था।

1848 में पुणे नगर की 'भिड़े हवेली' में फुले दंपत्ति ने पहली पाठशाला शुरू की थी। रूढ़िवादी और क्रूर सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार किया था। भिड़े हवेली में सवर्ण शिक्षकों ने पढ़ाने से मना कर दिया तब जोतिबा फुले ने निर्णय लिया

कि सावित्रीबाई और सगुनाबाई दोनों इस स्कूल में पढ़ाएँगी। हम सब जानते हैं कि जब वे पढ़ाने जाती थीं तो लोग उन पर कीचड़, गोबर और पत्थर तक फेंकते थे, इसलिए वे अपने झोले में दो साड़ियाँ रखकर जाती थीं, ताकि पहनी हुई साड़ी खराब हो जाने पर वह दूसरी साड़ी पहन पाएँ। स्त्री-शिक्षा को लेकर पुरुषों का वैसा ही सोचना था जैसे सवर्णों, विशेषकर ब्राह्मणों का दलितों की शिक्षा के प्रति विचार था। यदि दलित पिछड़े पढ़ गए तो अगड़ों की बेगार कौन करेगा? और यदि स्त्रियाँ पढ़ गईं तो पितृसत्ता का आधार कहाँ जाएगा? संभवत, इसी कारण सावित्रीबाई फुले की कक्षाओं में सवर्ण महिलाओं की संख्या ज्यादा रही।

यह भी विदित रहे कि उन्होंने सभी जातियों की लड़कियों को पढ़ाना शुरू किया। जो यह साबित करता है कि सावित्रीबाई फुले ने अपने मन में जाति मुक्त समाज का सपना पाल रखा था। उनके विचार में सब स्त्रियाँ बराबर का दर्जा पाती थीं। चाहे वह किसी भी जाति-समाज से हों' (हीरालाल राजस्थानी, 'प्रतिबद्ध' पत्रिका, जनवरी-मार्च 2019, पृष्ठ 2)

स्त्री-शिक्षा के साथ सावित्रीबाई फुले ने स्त्रियों के स्वास्थ्य को लेकर महत्त्वपूर्ण कार्य किये। विधवा ब्राह्मण स्त्रियों के साथ उनके घर-परिवार के लोग जबरदस्ती करते थे जिसकी वजह से कई बार स्त्रियों को गर्भ ठहर जाता था। ऐसी अवस्था में मृत्यु के अलावा कोई और उपाय नजर नहीं आता था। विधवा ब्राह्मणी काशीबाई के साथ भी यही हुआ था जिसे जोतिबा ने अपने घर में जगह दी थी। काशीबाई के होने वाले बच्चे को अपना दत्तक पुत्र माना था जिसका नाम यशवंत रखा गया। सावित्रीबाई ने ऐसी विधवा स्त्रियों को ध्यान में रखते हुए प्रसूति गृह खोले थे जिसमें सवर्ण स्त्रियों की संख्या बढ़ती गई। इन प्रसूति गृह और अनाथ आश्रम खोलने का एक उद्देश्य और था कि बाल हत्याओं को रोका जा सके।

जोतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले की शिक्षा और विचार बाद में बाबा साहेब डॉक्टर भीमराव अंबेडकर के स्त्री चिंतन में भी दिखाई पड़ते हैं। डॉक्टर अंबेडकर ने उनके विचारों को कानूनी रूप दिया लेकिन आजादी के बाद आंदोलन मंद पड़ गया। 1890 में जोतिबा फुले का परिनिर्वाण होने के बाद भी सावित्रीबाई फुले पूरे सात सालों तक सामाजिक काम करती रहीं। जोतिबा की दिखाई राह पर वह आगे बढ़ती रहीं। 1897 में महाराष्ट्र में भयंकर रूप से प्लेग फैल गया था। 'सत्यशोधक समाज' और सावित्रीबाई फुले ने प्लेग पीड़ितों को मदद पहुँचाने का काम किया। एक प्लेग पीड़ित बच्चे को बचाते हुए वह स्वयं भी प्लेग से पीड़ित हो गईं। 10 मार्च, 1897 को अपने पुत्र यशवंत के अस्पताल में ज्ञानज्योति और स्त्री-शिक्षा की पैरोकार सावित्रीबाई फुले एक सजग चिंतक और कवयित्री थीं। अपनी कविताओं में वह अनेक मुद्दों पर बात रखती हैं जैसे, प्रकृति, स्त्रियों की दशा, बच्चों की दशा, शिक्षा, अंग्रेजी-शिक्षा आदि। सावित्रीबाई फुले ने दो काव्य-संग्रह लिखे हैं। पहला 1854 में 'काव्य फुले' और दूसरा कविता-संग्रह 1891 में 'बावन्नकशी सुबोध रत्नाकर'। दूसरे काव्य-संग्रह को जोतिबा फुले की प्रमाणिक जीवनी माना जा सकता है।

सावित्रीबाई फुले ने शिक्षा के महत्त्व पर बल दिया है। शिक्षा के लिए 'जाग्रत हो जाओ' कविता में वह कहती हैं :

उठो भाइयो, अतिशूद्रों!
जागो, उठ खड़े हो जाओ!
परंपरा की गुलामी को खत्म करने
भाइयो, शिक्षा के लिए जाग्रत हो जाओ।'

(सावित्रीबाई फुले की कविताएं, सम्पादन अनिता भारती, पृ. 53)

शिक्षा को भी उम्र का मोहताज नहीं मानतीं। वह कहती हैं :

बाल-बच्चों को हम पढ़ाएँ
हमें भी पढ़ना है
विद्या पाकर ज्ञान बढ़ाएँ
नीति धर्म भी सीखें।

(वही, पृ. 53)

संभवत यहीं से शिक्षा को सर्वोपरि रखने का विचार डॉक्टर अंबेडकर को मिला। सावित्रीबाई फुले ऐसी शिक्षा को महत्त्व देती हैं जो समाज को अंधविश्वास से बाहर निकाले :

पत्थर को सिंदूर लगाकर
तेल में डुबोकर
जिसे समझा जाता है देवता
वह असल में होता है पत्थर।

(वही, पृ. 45)

हम जानते हैं 'विवेक' तथा 'तर्क' 'श्रद्धा', आस्था के मुकाबले आधुनिकता का प्रमुख तत्व हैं। उनकी कविता में बार-बार मानवता के कल्याण और संपूर्ण समाज का कल्याण जैसे भाव मिलते हैं :

मानव जीवन को करे समृद्ध
भय चिन्ता सभी छोड़कर आओ,

खुद जिएँ और औरों को जीने दें।

(वही, पृ. 78)

सह-अस्तित्व की यह भावना ही दलित साहित्य को विश्व साहित्य से जोड़ती है। यह एक संपूर्णतावादी और समरसतावादी अवधारणा है। संभवत इसी कारण बहुजन साहित्य तथा समाज का विचार दलित स्त्रीवाद का विचार बनता है। वे मानव और प्रकृति के संबंध को मानवता के लिए जरूरी मानती हैं :

मानव-प्राणी, निसर्ग-सृष्टि
एक ही सिक्के के दो पहलू
एक जानकर सारी जीव सृष्टि को
प्रकृति के अमूल्य निधि मानव की
चले, कद्र करें।

(वही, पृ. 78)

सावित्रीबाई फुले जातिगत शोषण के दुष्चक्र की ऐतिहासिक जाँच पड़ताल करती हैं :

खोज करें मन से
भारत के इतिहास की
अधर्मी जंगली इराणी आर्यों के
तार्तर कबीले के जंगली लोग
पराजित मूल निवासियों के सद्धर्म में
घुसपैठ कर
कब्जा जमाए बैठे हैं।

(वही, पृ. 81)

'तैयारी' कविता की इन पंक्तियों में इतिहास चेतना है जिसके आधार पर दलित साहित्य की नींव पड़ी है। किसी भी तरह शोषण की जड़ तक पहुँचने के लिए इतिहास का ज्ञान अनिवार्य है :

मनुस्मृति की कर रचना मनु ने
किया जाति वर्ण का विषैला निर्माण

(वही, पृ. 83)

यहाँ सावित्रीबाई फुले जातिवादी शोषण में मनुवादी विधान को लक्षित करती हैं। वे पेशवाराज के 'अनाचार, शोषण व अत्याचार' को भी उजागर करती हैं :

पेशवा ने पाँव पसारे
उन्होंने सत्ता, राजपाट सँभाला
और अनाचार, शोषण, अत्याचार होता देखकर
शूद्र हो गए भयभीत

(वही, पृ. 84)

स्पष्ट हो जाता है कि दलित स्त्री की भूमिका चूल्हे, चौके, घर, आँगन से बाहर राजनीति तथा समाज में भी जरूरी मानती हैं। अंग्रेजी राज की प्रशंसा करती हैं :

स्त्री और शूद्रों को
कराने मुक्त पेशवाई से
आया है अंग्रेजों का राज

(वही, पृ. 85)

यह भाव बाद में मुख्यधारा में भारतेंदु हरिश्चंद्र के यहाँ राजभक्ति तथा राष्ट्रभक्ति के संदर्भ में देखा जा सकता है। जैसे भारतेंदु कहते हैं–'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी'। उसी प्रकार सावित्रीबाई फुले स्पष्ट कहती हैं :

सारी शूद्र जनता
करती अंग्रेजों का समर्थन

(वही, पृ. 85)

क्योंकि अंग्रेजी राज में शूद्रों का इतिहास में पहली बार उनके हक का अधिकार मिला।

अंग्रेजों की सरकार में
करने लगे नौकरी अशूद्र
और शूद्र स्त्री रहे अशूद्र
भारत में अंग्रेजों की सत्ता का उदय हुआ
जनता करने लगे प्रगति
मराठीभाषी अंचल में

(वही, पृ. 86)

सावित्रीबाई फुले जिस वास्तविकता को समझ उद्घाटित कर रही थीं इसका मूर्त रूप आज दिखाई दे रहा है। सावित्रीबाई फुले समान विचारधारा वालों की पहचान कर उनके योगदान का भी उल्लेख करती हैं :

ईसा मसीह के अनुयायी
ईसाई मिशनरी स्कूलों में
प्यार और ममता से पढ़ाते
शुद्र जनता के बच्चों को

(वही, पृ. 87)

भारतीय समाज में दलितों को शिक्षा का कोई अधिकार नहीं था। ईसाई मिशनरियों ने न केवल दलितों को शिक्षा का विचार दिया, बल्कि उन्हें प्रेम से शिक्षा भी दी। शिक्षा के महत्त्व को समझ कर सावित्रीबाई फुले ने इसे आगे बढ़ाया। सावित्रीबाई फुले के लिए कविता मात्र भावों का प्रकटीकरण या मन बहलाव नहीं है बल्कि एक मिशन की तरह है। वे

पाठकों से सीधा संवाद कर पूछती हैं :

मेरी कविता को पढ़-सुनकर
यदि थोड़ा भी ज्ञान हो जाये प्राप्त
मैं समझूँगी मेरा परिश्रम सार्थक हो गया
मुझे बताओ सत्य निडर होकर
कि कैसी है मेरी कविताएं
ज्ञानपरक, यथार्थ, मनभावन या अद्‌भुत
तुम ही बताओ।

(वही, पृ. 94)

यहाँ कविता सामाजिक परिवर्तन का औजार बनकर आती है। अत्याचारी समाज व सत्ता के खिलाफ हथियार का काम करती है। इस अर्थ में वह दलित स्त्रीवाद की बुनियाद रखती है और उसे एक वैचारिकी भी प्रदान करती है।

सावित्रीबाई फुले का व्यक्तित्व महान और अनुकरणीय रहा है, इतना कि बाद के कवियों ने उनको कविता का विषय बनाया। सावित्रीबाई फुले के व्यक्तित्व की काव्यात्मक अभिव्यक्ति कँवल भारती इन शब्दों में करते हैं :

कोटि-कोटि तुझे नमन करेगी, यह भारत की नारी
ऐ सावित्रीबाई फुले तेने करी क्रांति भारी
नारी जात को द्वार नरक का ब्राह्मण ने बतलाया था
पति मरण पे विधवा को भी जिंदा संग जलाया था
जन्म जन्म की दासी थी अधिकार ना कोई पाया था
पढ़ना लिखना उसकी खातिर पाप कर्म ठहराया था
नारी का स्कूल खोल तेने फूँक दई चिनगारी
ऐ सावित्रीबाई फुले तेने करी क्रांति भारी!

('प्रतिबद्ध', जनवरी-मार्च 2019, पृ. 26)

इसी प्रकार 'सावित्रीबाई' शीर्षक से उड़िया के सुप्रसिद्ध कवि वासुदेव सुनानी ने भी कविता लिखी है :

सावित्रीबाई, एक लाइट हाउस का नाम
जिसने मूर्ख लोगों को महा समुंदर के पार करा दिया
असहाय विधवा को पहना दिया
आत्म-सम्मान की पाट-साड़ी
लड़कियों के हाथ में जोड़ दिया
आकाश में उड़ने का पंख
पुराण पोथी के अंध आचरण को तोड़कर
नारी और पुरुष को कर दिया समान'

(अनुवाद : बजरंग बिहारी)

सावित्रीबाई फुले के महान व्यक्तित्व ने 'हिन्दी दलित साहित्य में एक नई अस्मिता 'दलित स्त्रीवाद' की अवधारणा भी प्रस्तुत की। वर्तमान दलित स्त्रीवाद और दलित स्त्री साहित्य आंदोलन सावित्रीबाई फुले का ऋणी हैं।

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि सावित्रीबाई फुले ने विषमतामूलक विमर्श पर बात करते हुए सत्ता, संस्कृति और समाज में व्याप्त तमाम विषमताओं, विसंगतियों पर प्रहार किए। सावित्रीबाई फुले ने एक तरह से छद्‌म राष्ट्र-वादियों और छद्‌म स्त्रीवादियों की कथनी-करनी के भेद को भी उजागर किया है। ऐसा नहीं हो सकता कि आप (सवर्ण समाज की स्त्री और पुरुष) पितृसत्तात्मक परिवार और समाज में अपने हक अधिकार के लिए, अस्मिता के सम्मान के लिए, कानून और संविधान की, नैतिकता और मानवता की दुहाई दें, परंतु सामान्य जीवन में जाति-व्यवस्था के भेदभाव को, स्त्री-पुरुष के भेदभाव और श्रम के शोषण को समर्थन दें। ऊँच-नीच, छुआछूत को मानें। इसे हम छद्‌म स्त्रीवाद सूडो फेमिनिज्म और सूडो नेशनलिज़्म भी कह सकते हैं।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद से लड़ने में आप नैतिकता और मानवता की दुहाई देते हैं ,परंतु अपने ही समाज में व्याप्त विधवा, जाति और स्त्रीवादी समस्या पर मौन साध लेते हैं इसे छद्‌म राष्ट्रवाद कहेंगे। इसलिए जब हम सामाजिक विसंगतियों पर बात करेंगे तो तमाम तरह की विसंगतियों पर एक समझ होनी जरूरी है। उसके बाद हम स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, आदिवासी-विमर्श इत्यादि पर बात करने में सक्षम होंगे, तार्किक होंगे।

जब आप असमानता, अन्याय और शोषण के खिलाफ लड़ाई लड़ रहे होते हैं तो बहुत लोगों के पक्ष में उन लोगों के लिए यह लड़ाई लड़ रहे होते हैं। इसलिए स्त्री सशक्तीकरण स्त्री-मुक्ति से संभव होता है और स्त्री-मुक्ति की अनिवार्य शर्त सांस्कृतिक मुक्ति है। सावित्रीबाई फुले भारतीय स्त्री की सांस्कृतिक मुक्ति की वाहक हैं और उन्नीसवीं शताब्दी में किए जा रहे स्त्री-शिक्षा के प्रयासों की आदर्श भी।

रानी कुमारी
देशबंधु महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
rani-kumari1210@gmail.com

सबाल्टर्न आत्मकथायें-आत्मसंघर्ष का वृत्तांत

—डॉ. राजकुमार राजन

सबाल्टर्न शब्द का प्रयोग समाज के उन वर्गों के लिए प्रयुक्त हो रहा है जो वर्ग, समुदाय और जाति सदियों से प्रताड़ित रहा है। यह वही वर्ग है जो समाज की मुख्यधारा में सम्मिलित होने के लिए आज भी संघर्षरत है। 'प्रिजन नोटबुक्स' में सबाल्टर्न शब्द की व्याख्या करते हुए अंतोनियो ग्राम्सी कहते हैं, ''सबाल्टर्न पद का प्रयोग समाज के गौण—दलित और उत्पीड़ित आदि लोगों के लिए प्रयोग किया गया है।'' सबाल्टर्न शब्द का प्रयोग वैसे तो प्रथमतः औपनिवेशिक दासता के संदर्भ में होता था, किंतु प्रकारांतर में यह शब्द अस्मिता की अवधारणा से भी जुड़ गया। समकालीन दौर में सबाल्टर्न पद का अनुप्रयोग दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य, स्त्री साहित्य के भी संदर्भ में विवेचित हो रहा है। सबाल्टर्न साहित्य का सृजन 'अस्मिताओं के संघर्ष से उपजा है। हिन्दी साहित्य में सबाल्टर्न लिट्रेचर का अपना स्वतंत्र इतिहास है, जिनमें 'दलित-विमर्श' और 'स्त्री विमर्श' की केन्द्रीय भूमिका है। अब, जबकि दलित साहित्य या स्त्री साहित्य स्वयं अपने जीवन के अनुभव को व्यक्त कर रहा है। यह अनुभव की अभिव्यक्ति जीवन के ठोस संघर्ष का सृजन है।

स्वतंत्रता आन्दोलन कल्पनाओं और संभावनाओं से भरा हुआ था। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारत में आज भी हम लोग कहीं ना कहीं सवर्ण और अवर्ण के स्वप्नदर्शी बने हुए हैं। सिद्धांतों और किताबी बहसों से बाहर, जीवन में हमें आज भी अनेक उदाहरण मिल जायेंगे जिनसे हमारी जाति और वर्णगत असहिष्णुता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। 'जूठन' ऐसे ही उदाहरणों की शृंखला है जिन्हें एक दलित व्यक्ति ने अपनी पूरी संवेदनशीलता के साथ खुद भोगा है।''[1] 'जूठन' ओमप्रकाश वाल्मीकि की एक चर्चित आत्मकथा है। 'जूठन' को पढ़ते हुए 'दलित' होने के दुःख का एहसास किया जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण में जहाँ आज भी यह वर्ग आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षणिक पिछड़ा है, वहीं अस्पृश्यता इनके मनुष्य होने के गौरव को क्षरित करता है। मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश की कथा भूमि 'जूठन' में लेखक के जीवन-यथार्थ, दलित होना भर किसी के लिए कितना अभिशाप हो सकता है, यह उनके जीवन-दर्शन में झांका जा सकता है। ''दलित-जीवन की पीड़ायें असहनीय और अनुभवदग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज-व्यवस्था में हमने साँसें ली हैं, जो बेहद क्रूर और

अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।''[2] स्वयं लेखक का जीवन-संघर्ष का अनुभव कष्टों से भरा है, जिसे शब्दों में समेट लेना उनको महान, अद्वितीय रचनाकार के श्रेणी में प्रतिबद्ध कर देता है। किसी लेखक की महानता उनकी रचनाओं में होती है, लेखक बड़ा वही होता है, जो भविष्य की भयावहता को पकड़ पाता है, ओमप्रकाश वाल्मीकि ऐसे ही रचनाकार हैं। मनुष्य की पहचान उसकी मनुष्यता होती है। वह कैसा मनुष्य है जो अपने जैसे दूसरे हाड़-मांस जैसे मनुष्य के साथ अस्पृश्यता का भाव रखता है। ऐसी मनः स्थिति रखने वाला व्यक्ति कुछ भी हो सकता है, मनुष्य नहीं। व्यक्ति की पहचान उसके कर्मों से होना चाहिए। आश्चर्य है, उन महानुभावों का जिन्होंने उनकी पहचान उनकी जाति में ढूँढ़ लिया, जिसमें जन्म लेना उसका अपना वश नहीं है। व्यक्ति की अपनी गरिमा, अभिमान, स्वाभिमान सब कुछ सामूहिकता में सांकेतिकता हो जाता है। कभी सोचता हूँ, ऐसे नियम बनाने वाले कितने चतुर होंगे, जिन्होंने अपनी सत्ता एवं सामर्थ्य को सदा स्थापित करने के लिए या अपनी पीढ़ियों की सुरक्षा के लिए दूसरे पीढ़ियों एवं नस्लों को सदियों तक बर्बाद करते रहे। नीचता के भाव से किसी व्यक्ति को उसके नाम से नहीं उसकी जाति से सूचित करना और आश्चर्य यह कि बड़े-छोटे का भाव नदारत। यह कैसी संस्कृति है। ऐसी अपसंस्कृति को विनष्ट हो जाना चाहिए। ''गाली-गलौज, प्रताड़ना अलग। नाम लेकर पुकारने की किसी को आदत नहीं थी। उम्र में बड़ा हो तो 'ओ चूहड़े', बराबर या उम्र में छोटा है तो 'अबे चूहड़े के'—यही तरीका या सम्बोधन था।''[3]

आर्थिक विपन्नता मनुष्य को कितना निरुपाय एवं असहाय बना देता है, इसकी मार्मिकता का एहसास 'जूठन', 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' एवं 'मणिकर्णिका' में देखा जा सकता है। जूठन का लेखक पत्तल पर फेंके गए, जूठे खाने से पेट भरता है। 'मेरा बचपन मेरे कंधो पर' का लेखक जानवरों के मल में से निकले वर्जित अन्न के टुकड़ो से भूख मिटाता है तो 'मणिकर्णिका' का लेखक सुबह शाम सिर्फ चाय पीकर भूख को सप्ताह भर संतुलित करता है। ''शादी-ब्याह के मौकों पर, जब मेहमान या बराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाजों के बाहर बड़े-बड़े टोकरे लेकर बैठे रहते थे। जूठन चटखारे लेकर खायी जाती थी।''[4] ''इन्हीं दिनों हम दुबक छिप कर 'दाँयें' चलाने वाले बैलों के गोबर से गेहूँ निकाल कर लाते थे और उन्हें धोकर अनाज छाँट लेते थे।''[5] ''इसके बावजूद, 1968 के वे दिन मुझे कभी नहीं भूलेंगे, जब मैं लगातार नौ दिनों तक भूखा रहा। उन नौ दिनों तक में एक चाय सुबह और दूसरी शाम को पीकर गुजारा करता था। वह चाय भी उधार की होती थी, इसलिए वैसा करने में सफल रहा।''[6]

आर्थिक विपन्नता, सामाजिक विषमता का सबसे बड़ा दुष्परिणाम है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में एक ऐसे वर्ग को सैकड़ों वर्षों तक सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित रखा गया, इसका परिणाम है, उसकी 'जर्जरित गरीबी'। तुलसीराम इस गरीबी का समाधान अपने शुरुआती चिन्तन में मार्क्सवादी चिन्तनों में ढूँढ़ते हैं, श्यौराज सिंह 'बेचैन' सामाजिक व्यवस्था में और ओमप्रकाश वाल्मीकि व्यक्ति के प्रकृति में। आर्थिक विपन्नता के गहरे एवं ठोस निहितार्थ हैं। भारतीय सभ्यता में आर्थिक शोषण का बड़ा कारण 'वर्णवादी व्यवस्था' में अंतर्निहित है जिसे बाहरी परिदृश्य में मार्क्सवाद गरीबी-अमीरी के खाँचे में बाँट देता है, जबकि आंतरिक कारण 'वर्णाश्रम व्यवस्था' के भीतर विभिन्न जातियाँ का खाँचा, जातियाँ के भीतर निर्धारित पेशा है। भारतीय जीवन पद्धति में शिक्षा और सम्पत्ति का अधिकार एक ऐसे वर्ण में बाँट दिए गए, जो भारतीय सम्यता बोध में वर्चस्वशाली, सत्ता एवं शक्ति का प्रतीक बनता चला गया, जबकि अन्य गरीबी एवं अशिक्षा के दुष्चक्र में फँसता चला गया। सबाल्टर्न आत्मकथाएँ ऐसे गम्भीर मुद्दे पर विचार-विमर्श की माँग करती हैं।

सबाल्टर्न आत्मकथाओं में 'एक कहानी यह भी' और 'हादसे' जो मन्नू भंडारी और रमणिका गुप्ता की 'आत्मकथात्मक संस्मरण' है। इन दोनों आत्मकथाओं में 'स्त्री-संघर्ष' की लम्बी फेहरिस्त है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था पुरुषवादी वर्चस्व का आधिपत्य रहा है। पुरुष अपने वर्चस्व को स्थापित करने हेतु स्त्रियों के साथ भेद-भाव करता रहा है। यही कारण है कि स्त्रियाँ बहुत सारे अधिकारों से वंचित रही हैं। काफी लम्बे संघर्ष के बाद दोनों अधिकार सुरक्षित हो पाए हैं लेकिन व्यावहारिक तौर पर आज भी ये अधिकार जमीनी स्तर पर लागू नहीं हैं। 'हादसे' आत्मकथा रमणिका गुप्ता के जीवन-संघर्ष का आख्यान है। यह आत्मकथा स्त्रियों को आत्मबल प्रदान करता है। 'हादसे में रमणिका गुप्ता का जीवन-संघर्ष सिर्फ उनकी नहीं है बल्कि उन हिन्दुस्तानी स्त्रियों की भी है, जो परम्परा को तोड़कर एक नई राह बनाने में आज भी संघर्षरत है। जब परम्पराएँ पैर की बेड़ियाँ बन जाएं तो उसे उखाड़ फेंकने में ही भला है। ''मेरे सामने प्रश्न था अपने विचारों, अपनी धारणाओं को सार्थक सिद्ध करने का और लोक-लाज

के रूढ़िगत विचारों के विरुद्ध खड़ा होने का। मैंने अपने मानदंड खुद गढ़े।''[7]

'हादसे' और 'एक कहानी यह भी' दोनों संघर्षशील स्त्रियों की संस्मरणात्मक आत्मकथा हैं। 'हादसे' में विद्रोही स्वर की अनुगूँज है जो रूढ़ि परम्पराओं को तोड़कर नवीन आधुनिकता को जन्म देती है। जबकि 'एक कहानी यह भी' में स्त्री-संघर्ष सहनशीलता की हद पार कर जाती है। पुरुषवादी वर्चस्व स्त्रियों की मानसिक एवं आर्थिक शोषण का बड़ा केंद्र रहा है। मन्नू भंडारी उस वर्चस्व को तोड़ने में लगभग कई दशक गुजार देती हैं। भारतीय स्त्रियाँ अपनी नैतिकताओं की प्रतिबद्धता में रूढ़ हैं। यही नैतिकता उनके शोषण का सबसे बड़ा आधार है। नैतिक होना और नैतिकता के कारण शोषित होना दोनों अलग-अलग शब्दावली है। 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी अपने लेखकीय जीवन का संस्मरण कह रही हैं लेकिन उन संस्मरणों में अपने जिद्दी पति की पत्नी होने की बाधाओं को जिस साहस के साथ बर्दाश्त करती हैं, वह 'स्त्री-संघर्ष' की यथार्थ को प्रदर्शित करता है। ''पर जिन्दगी शुरू करने के साथ ही लेखकीय अनिवार्यता के नाम पर राजेन्द्र ने 'समानान्तर जिन्दगी' का आधुनिकतम पैटर्न थमाते हुए जब कहा कि 'देखो, छत जरूर हमारी एक होगी लेकिन जिन्दगियाँ अपनी-अपनी होंगी—बिना एक-दूसरे की जिन्दगी में हस्तक्षेप किए बिल्कुल स्वतंत्र मुक्त और अलग'।''[8] मन्नू भंडारी और राजेन्द्र यादव की यह समानान्तर जीवन को मुक्त होने में लगभग तीन दशक गुजर गए। यही सहनशीलता और नैतिकता स्त्रियों की शोषण का सबसे बड़ा कारण है।

'हादसे' आत्मकथा स्त्रियों की पीड़ा को व्यक्त करते हुए क्रांतिकारी परिवर्तन की मांग करती है। अपने हिस्से की स्वतंत्रता का आगाज भी करती है। 'स्त्री' होने की सीमाओं को पार करते हुए खुद रमणिका गुप्ता हर वह कार्य करती हैं, जो पारम्परिक स्त्री होने की परिभाषा को तोड़ती है। बिहार जैसे प्रदेश जहाँ सामन्तों, जमींदारों, बाहुबलियों, ठेकेदारों का वर्चस्व है, वहाँ मजदूरों और शोषितों के पक्ष में खड़ा होकर, उनके अधिकारों के लिए लोहा लेना उनकी निर्भयता का परिचायक है। यह आत्मकथा उन स्त्रियों के लिए प्रेरणादायक है, जो अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं में अपनी जिन्दगी की सार्थकता सिद्ध करती हैं। रमणिका गुप्ता ने जीवन में सुख-सुविधाओं को छोड़कर संघर्ष का रास्ता चुना था। एक क्षत्रिय परिवार की स्त्री, जिसका जीवन सुख-सुविधाओं से सम्पन्न हो, वह एक परम्परा को तोड़कर 'गुप्ता' से प्रेम-विवाह करने के लिए परिवार से विद्रोह करती है। साहस के साथ निर्णय लेती है। अपनी स्वतंत्रता, आशा, आकांक्षा के लिए अपने पापा से भी जवाब-तलब करती है। ''एक दिन मेरे पापाजी ने आजिज आकर कहा—''ये फैसला तो बदलना ही होगा नहीं तो तुम दोनों में से किसी एक को जहर खाना होगा—तुम्हारी माँ को या तुम्हें।'' मैंने तुरन्त जवाब दिया—''मेरी माँ और आप जिन्दगी का सुख देख चुके हैं, भोग चुके हैं। मुझे अभी जिन्दगी देखनी बाकी है इसलिए जहर मैं नहीं खाऊँगी, बीवीजी (माँ) खाएँ।''[9] रमणिका गुप्ता विद्रोही स्वर की पर्याय रही हैं। चाहे वह परिवार, राजनीतिक पार्टी, सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूपों में हों, जहाँ भी अन्याय के खिलाफ आवाज़ बुलंद करना हो, वहाँ वह निर्भय होकर सामना करती हैं।

सबाल्टर्न आत्मकथाओं का आत्मसंघर्ष व्यक्ति से समाज की ओर उन्मुख है। दरअसल उनकी समस्या खुद उनकी नहीं है, समाज के थोपे हुए वर्चस्वशाली शक्तियों की हैं जो सदियों से सत्ता के केंद्र में रहे हैं। दलित, स्त्री दोनों हमारे समाज के हाशिए का वर्ग है। डॉ. तुलसी राम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' सिर्फ आत्मकथा मात्र नहीं है। अपने जीवन-संघर्ष का उल्लेख करते हुए तुलसी राम जिस भारतीय सभ्यता बोध से अवगत कराते हैं, वह बहुत दुःखदायी है। तुलसी राम की आत्मकथा भारतीय व्यवस्था का यथार्थ है। तुलसी राम एक नई परम्परा को जन्म देते हैं। यह नई परम्परा यथार्थ के भीतर यथार्थबोध की चेतना है। आज भी दलित समुदाय के भीतर आर्थिक विपन्नता का बोध, उसे मनुष्य होने की पहचान को प्रश्नांकित करता है। ''वे दिन आज भी जब याद आते हैं, तो मुझे लगता है कि मुर्दों-सा लेटे हुए हमारे नीचे पुआल, ऊपर भी पुआल और बीच में कफन ओढ़े हम सो नहीं रहे बल्कि रात भर अपनी-अपनी चिताओं के जलने का इंतजार कर रहे हों।''[10]

सबाल्टर्न आत्मकथाएं की समस्याएं उनकी अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि की अपनी-अपनी पीड़ायें हैं। स्त्रियों के संदर्भ में पुरुष वर्चस्ववादी पृष्ठभूमि है, जबकि दलितों के संदर्भ में सवर्ण-अवर्ण की समस्याएं हैं। दलित साहित्य बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर को अपना आदर्श मानते हैं। भीमराव अम्बेडकर यह मानते थे, इन सभी सामाजिक असमानताओं के केन्द्र में धार्मिक ग्रंथ है, जिसमें असमानता पैदा करने के मूल स्रोत हैं। जब तक उन मूल धार्मिक साहित्य में परिवर्त्तन नहीं होगा, तब तक व्यावहारिक रूप से सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है। शास्त्रों के अनुसार जाति और अस्पृश्यता का पालन करने को शास्त्रों में धार्मिक

कर्त्तव्य माना गया है।''[11] दिलचस्प है, जो विचार दलित साहित्य के मूल में है, वही विचार सबाल्टर्न आत्मकथा में गायब है। सबाल्टर्न आत्मकथा, ''गाजीपुर में 'क्रिस्टोफर काडवेल' जो वरिष्ठ पत्रकार 'उर्मिलेश' की आत्मकथा है। उन्होंने लिखा है, ''डॉ. अम्बेडकर लगातार कहते रहे कि भारत में वर्ण-व्यवस्था यानि जाति-संरचना हिंदुओं को वास्तविक समाज या राष्ट्र बनने से रोकती है। जाति सिर्फ जनतंत्र-विरोधी ही नहीं, राष्ट्र निर्माण के रास्ते में बड़ी बाधा भी है।''[12]

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पुस्तक फ्लैप
2. वही, लेखक की ओर से
3. वही, पृ. 12
4. वही, पृ. 19
5. मेरा बचपन मेरे कंधों पर, श्यौराज सिंह 'बेचैन', पृ. सं. 30.
6. मणिकर्णिका, डॉ. तुलसी राम, पृ. 42
7. हादसे, रमणिका गुप्ता, पृ. 17
8. एक कहानी यह भी, मन्नू भंडारी, पृ. 56
9. हादसे, रमणिका गुप्ता, पृ. 24
10. मुर्दहिया, डॉ. तुलसी राम, पृ. 34
11. जाति का विनाश, डॉ. आंबेडकर, पृ. 139
12. गाजीपुर में क्रिस्टोफर काडवेल, उर्मिलशे, पृ. 153

(सहायक प्रोफेसर)

शहीद भगत सिंह महाविद्यालय,

दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली,

मो. 9868484825

'प्रार्थना में पहाड़' उपन्यास में अभिव्यक्त पर्यावरणीय चिंतन

—ओमवती

आज मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास के कारण पर्यावरण संतुलन बिगड़ने लगा है। वर्तमान दौर में जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी क्षेत्रों में उन्नति, औद्योगिक और नगरीय सभ्यता का विस्तार हुआ तथा जनसंख्या की वृद्धि के परिणामस्वरूप जीविका की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति हेतु प्रकृति का अतिशय दोहन प्रारंभ हो गया है। इसके परिणाम स्वरूप जो प्रकृति हमारे लिए पूजनीय थी आज वही मानव द्वारा किये गए कृत्यों से दूषित हो गयी है। जब पर्यावरण प्रदूषण से पर्यावरण संकट उत्पन्न हुआ तो उसका असर मनुष्य के अस्तित्व के संकट के रूप में सामने आया जिसकी प्रतिक्रिया हमें समकालीन साहित्य में भी देखने को मिलती हैं। समकालीन रचनाकारों ने पर्यावरण संकट को कई रूपों में अभिव्यक्त किया है। आज के संवेदनहीन दौर में पर्यावरण संकट के बढ़ते हुए खतरे को लेकर समाज में जागृति उत्पन्न करने में समकालीन रचनाकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ऐसे में, समकालीन कथाकार भालचंद्र जोशी कृत ''प्रार्थना में पहाड़'' उपन्यास में पहाड़ी आदिवासी समाज के अस्तित्व का संघर्ष और पूंजीपति सभ्य समाज द्वारा जंगल, जमीन पर निरन्तर शोषण की गाथा को प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में एक तरफ भौतिक सुख-सुविधाओं से भरा हुआ शहर है जहाँ पर बेईमानी, छल कपट, भोग-विलास, धन-अर्जन करना और व्यापारिक मुनाफा कमाना ही एक मात्र पूंजीपतियों का ध्येय बन गया है। दूसरी ओर निर्दोष आदिवासी समुदाय है जिनका जीवन पूरी तरह जंगलों पर निर्भर रहता है। वह पूर्ण रूप से पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, नदियों, पहाड़ों आदि पर निर्भर रहते हैं। परन्तु इन आदिवासी जनजातियों पर सभ्यता के केंद्र में बसे सभ्य समाज के हस्तक्षेप होते ही इनका जीवन खतरे में पड़ जाता है।

पहाड़ी आदिवासी समुदाय को लेकर पूंजीवादी वर्ग का गैर-जिम्मेदाराना रवैया भी खुलकर सामने आता है। उपभोक्तावादी सभ्यता में अधिक से अधिक लाभ कमाने की चाहत में मिस्टर बजाज जैसे स्वार्थी सभ्य समाज के लोग जो कई फैक्ट्रियों के मालिक हैं, यह हर वर्ष स्वच्छ, जीवनदायिनी नदियों में अपनी फैक्ट्रियों का वेस्ट लिक्विड छोड़ देते हैं। एक तरह का जहरीला तरल पदार्थ होता है और नदियों में जाकर उन्हें भी जहरीला बना देता है। हर साल वर्षा का पानी आने से जहरीला तरल पदार्थ बह जाता था। परन्तु, इस वर्ष वर्षा के अनुमानित समय पर न होने से नदी का जल बहता नहीं है और अमृत के समान बहने वाला जल विष बन कर सभी जीव-जंतुओं, पशु-पक्षियों और वहाँ रहने वाली आदिवासी जनजाति को मृत्यु के घाट

उतार देता है। ''इंसानों की लाशों को जलाने का काम तो कर दिया था लेकिन जानवर इतनी ज्यादा संख्या में मरे थे कि उनको वहाँ से हटाने में सभी लाचार थे। कुछ जानवर नदी में ही मरे पड़े थे। उन मरे हुए जानवरों से बीमारी फैलने का नया भय पैदा हो गया था। पूरा गाँव मृत जानवरों की दुर्गंध से भरा पड़ा था।'' कुल डेढ़ सौ लोगों के इस गाँव में मृत्यु का तांडव होने लगा था। सभी जीवन की आशा में जंगलों से होते हुए पहाड़ पर चढ़ने लगे। और पहाड़ पर जीवन रूपी जल की प्रार्थना करने लगते हैं। मिस्टर बजाज को फैक्ट्री के अनुबंध में यह स्पष्ट किया गया था कि फैक्ट्री के वेस्ट लिक्विड के डिस्पोजल के लिए एक ट्रीटमेंट प्लांट बनाया जाएगा। किंतु ट्रीटमेंट प्लांट पर व्यय करने जैसी मूर्खता उनकी व्यापारिक बुद्धि के खिलाफ थी। ''ये नेचर के इनबैलेंसिंग से हुआ है। पिछले दस सालों से बारिश पन्द्रह या सोलह जून तक हो जाती थी। इस बार नहीं हुआ ऐसा यह मेरे करने से नहीं हुआ। नेचर के कारण हुआ।'' आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में जहाँ मानवीय मूल्य और मानवीय संवेदना ही नष्ट होती जा रही हैं, ऐसे में प्रकृति के प्रति कहाँ से संवेदनाएं जीवित बची होंगी। इस बाजारी उपभोग की संस्कृति की आलोचना करते हुए राजकुमार शर्मा लिखते हैं–''मानवीय मूल्यों और उनसे नियंत्रित जीवन व्यापार के क्षेत्रों में जो अराजकता संस्कृति ने पैदा की है वह एक वैश्विक सच्चाई है।'' इस घटना की सूचना मिलते ही मिस्टर बजाज और प्रशासन के बीच लेनदेन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है जिसमें कलेक्टर, विधायक, मंत्री, मुख्यमंत्री, पत्रकार सभी समाज के उच्च वर्गों पर बैठे लोग शामिल हो जाते हैं। सभी अपने अपने पदों का दुरुपयोग कर अधिक से अधिक लाभ इस अवसर का उठाना चाहते हैं। सिवाय, उस आदिवासी समुदाय के जहाँ अब केवल मुश्किल से बीस से पच्चीस लोग ही जीवित बचे हुए हैं। ''मुझे उस गाँव के लोगों के मरने जीने से क्या लेना देना? एक करोड़ बाइस लाख जनसंख्या है इस देश की। सौ पचास के मरने से फर्क नहीं पड़ने वाला....'' आदिवासी समाज को लेकर पूंजीवादी सभ्य समाज का असभ्य रवैया भी यहाँ खुलकर सामने आता है। किसी को भी आदिवासियों के दुःख, दर्द, भूख, प्यास की चिंता नहीं होती है। उपन्यासकार इसी ओर ध्यान केंद्रित करता है कि एक तरफ सारा व्यापार राजनीतिक षड्यंत्रों के साथ फलता-फूलता है तो दूसरी ओर भितांडा जैसे गांव के निर्दोष आदिवासी समुदाय का नामोनिशान हमेशा के लिए मिट जाता हैं।

इस उपन्यास में देवा और धन्ना काका के माध्यम से समाज की वास्तविक स्थिति को नग्न रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा राजनीतिक षड्यंत्रों का भी पर्दाफाश किया गया है। लेखक सभ्य समाज के समक्ष यह प्रश्न रखता है कि आखिरकार इस आत्महत्याओं का जिम्मेदार कौन है? आखिरकार, असली अपराधी कौन है? वह व्यक्ति जो आत्महत्या करता है या वह परिस्थितियाँ जो उस व्यक्ति को आत्महत्या करने पर मजबूर कर देती हैं या वह तमाम राजनीतिक, सामाजिक दावपेंच जो उसके समक्ष ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं। वर्तमान में संसाधनों की कमी के कारण आत्महत्या करते किसानों की जो स्थिति स्पष्ट होती है, उसकी जड़ें समाज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीति संरचनाओं में नजर आती है। लेखक भालचंद जोशी ने ''प्रार्थना में पहाड़'' उपन्यास के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग के स्थान पर उपभोग, प्रकृति के प्रति संवेदनहीनता, मानवीय क्रियाकलापों द्वारा नदियों का जल दूषित करना, जलवायु परिवर्तन, संसाधनों के अभाव में किसानों का आत्महत्या करना, मानवीय मूल्यों का ह्रास, मीडिया के भीतर फैला भ्रष्टाचार, बाजारीकरण, रिश्वतखोरी, बेईमानी, मुनाफाखोरी, छल-कपट, राजनीति षडयंत्र, आधुनिकता की आड़ में स्त्री चरित्र का पतन, राजनीति और सामाजिक व्यवस्था की वास्तविकता को सूक्ष्मता से चित्रित करता है।

''प्रार्थना में पहाड़'' उपन्यास में लोगों का जीवन बचाने की पहाड़ से प्रार्थना नजर आती है। प्रकृति की ही गोद में मनुष्य का जीवन बच सकता है। यदि वास्तविक रूप में देखा जाए तो पर्यावरण संरक्षण के लिए संघर्ष तो जंगलों और पहाड़ों पर रहने वाले आदिवासी कर रहे हैं। पर्यावरण पर होने वाली हानि का प्रत्यक्ष प्रभाव आदिवासियों के जीवन पर पड़ता है जो कि पर्यावरण संकट के साथ आदिवासियों के जीवन का संकट भी उत्पन्न करता है। आदिवासी समाज का संघर्ष केवल अपने अस्तित्व का या आगामी पीढ़ी की जिंदगी को कल्याणमय बनाने का संघर्ष नहीं है, बल्कि यह संघर्ष तो समस्त जीव प्रजाति, प्रकृति, संस्कृति और समस्त जैविक अस्मिता को बचाने का संघर्ष है।

संदर्भ

1. जोशी, भालचंद्र, प्रार्थना में पहाड़, पृ. 10
2. वही, पृ. 27
3. इल्लत, प्रभाकरन, पर्यावरण और समकालीन हिंदी साहित्य, पृ. 48
4. जोशी, भालचंद्र, प्रार्थना में पहाड़, पृ. 16

ओमवती

शोधार्थी, हिंदी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

मो.न. 9069470040

प्राचीन भारतीय समाज का मुख्य अवदान

–भारती कुमारी

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए सामाजिक संस्थाओं जैसे वर्ण और आश्रम व्यवस्था के द्वारा सामाजिक ढाँचे को उसने मूल आधार प्रदान किया। चार पुरूषार्थ ने मनुष्य में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का आपस में संतुलन बनाए रखा। उसी तरह संस्कारों ने उसे जीवन ध्येय में आगे बढ़ते रहने के लिए सहयोग प्रदान दिया। समाज के सांस्कृतिक स्तर की जानकारी प्राप्त करनी है तो दास प्रभा, अस्पृश्यता, स्त्रियों की दशा और शूद्रों की स्थिति से भी प्राप्त की जा सकती है। शिक्षा व्यवस्था उन जीवन मूल्यों और आदर्शों की ओर बढ़ने में सहायक होती है जब कोई समाज उसे अति मूल्यवान समझता है। इसी प्रकार धर्म के संदर्भ में देखा जाए तो प्राचीन भारत में मनुष्य का प्रत्येक क्रियाकलाप कहीं न कहीं धर्म पर ही आश्रित था। माना जाता था कि धर्म का उद्देश्य समाज में संतुलन बनाए रखना था, परन्तु किसी समाज में संतुलन पूरी तरह स्थापित तभी किया जा सकता है, जब आर्थिक पक्ष भी मजबूत हो । इसी बात को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कौटिल्य ने भी कहा है ''बिना अर्थ के धर्म का ठीक प्रकार से पालन नहीं किया जा सकता ।''

परन्तु, कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत था कि प्राचीन भारतीय जीवन में आर्थिक पक्ष को महत्त्व नहीं देते थे । लेकिन यह विचार सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वैदिक कालीन आर्य अपने सुख एवं समृद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं। मनुष्य के जीवन में चार पुरूषार्थो में अर्थ का महत्त्व धर्म की अपेक्षा कम था। परन्तु आर्थिक पक्ष की भारत में उपेक्षा नहीं की जाती थी। कौटिल्य का उपरोक्त कथन सत्य है। चारों वर्णों में वैश्य का महत्त्व था क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों उसी की समृद्धि पर आश्रित थे। चारो आश्रमों में भी गृहस्थ आश्रम का महत्त्व सबसे अधिक था क्योंकि तीनों आश्रम के व्यक्ति गृहस्थ के उत्पादन पर आश्रित थे। इतना महत्त्व देते होते हुए भी प्रचीन भारत में आर्थिक पक्ष पर ग्रंथ नहीं प्राप्त होते हैं। हो सकता है, इसके पीछे मनुष्य की प्रागैतिहासिक सोच रही होगी जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई महत्त्व न रहा हो या अधिकांश ब्राह्मण वर्ण थे जिन्होंने धर्म का अर्थ से अधिक महत्त्व समझा। परन्तु, हम पूरी तरह यह नहीं कह सकते क्योंकि धर्म ग्रंथों से भी जीवन के आर्थिक पक्ष पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। वैदिक ग्रंथों में भी कृषि, उद्योग और व्यापार-वाणिज्य पर भी प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कृषि, पशुपालन, वाणिज्य के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है ।

कुषाण काल में भारत के व्यापार में वृद्धि एवं शिल्प उद्योगों को भी अधिक प्रश्रय मिला । इसकी जानकारी जातकों एवं तक्षशिला के उत्खनन से भी प्रकाश पड़ता है । इस समय के धार्मिक ग्रन्थों मिलिन्दपन्ह, स्मृति, रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में भी कृषि व्यवस्था की जानकारी हमें प्राप्त होती है। इसके पश्चात् गुप्तकालीन आर्थिक दशा की तो स्मृतियों के अतिरिक्त कालिदास के साहित्य तथा अमरकोश और वराहमिहिर की वृहतसंहिता के अतिरिक्त तत्कालीन अभिलेखों एवं मुद्राओं से भी जानकारी प्राप्त होती है । गुप्तोत्तर काल की आर्थिक दशा की जानकारी स्मृतियों के टीकाकारों के अतिरिक्त अभिलेखों और अरब यात्रियों के वर्णन से भी मिलती है। इस काल का सबसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिवर्त्तन भूमिदान तथा इस व्यवस्था से जन्मी सामन्तीय व्यवस्था का पूर्ण रूप से विकास है। कहीं न कहीं, गुप्त काल के अन्त में आर्थिक व्यवस्था में गिरावट होने का महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था। परन्तु, ग्यारहवीं शताब्दी में 'कृषि व्यापार' और बारहवी शताब्दी के पश्चात् 'बृक्षयाचुर्वेद' नामक कृषि से संबंधित दो ग्रंथों की रचना हुई जो पूर्व मध्यकाल में कृषि की उन्नति पर प्रकाश डालते हैं ।

वैदिककाल में वर्णव्यवस्था देश की संस्कृति तथा सामाजिक संघटनों की प्राण थी, इसी समय में भारत के आर्यों ने समाज को चार भागों में विभक्त किया था। अर्थशास्त्र के अनुसार यह साधारण विभाजन श्रम-विभाजन के आधार पर किया गया था। जिन लोगों ने अध्ययन, अध्यापन एवं पुरोहित कार्य में मन लगाया वे ब्राह्मण, जो शासन संबंधी एवं युद्ध संबंधी कार्य में लगे वे क्षत्रिय, जो व्यापार, उद्योग-धंधे, कृषक और पशुपालन में लगे थे वे वैश्य वर्ग और जो सेवा का कार्य करते थे, वे शूद्र कहलाये। आरंभ में वे वर्ग के रूप में किन्तु बाद में वे वर्ण कहलाने लगे।[1] वर्ण शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के वृ अथवा 'वरी' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है चुनना या वरण करना। संभवतः 'वर्ण' से तात्पर्य वृत्ति से है। किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से वास्तव में 'वर्ण' उस सामाजिक वर्ण की ओर इंगित करता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान है, जो अपनी विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों अथवा समूहों से सर्वथा अलग होता है । भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है जो पूर्व वैदिक युग के समाज रचना के प्रारंभिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। ऋग्वैदिक समाज के प्रारंभिक चरण में वर्ण का प्रयोग रंग के अर्थ में हुआ है। ऊषा को अरूण वर्ण तथा रात्रि को कृष्ण वर्ण कहा गया है।[2] वर्ण-व्यवस्था का विकास अचानक न होकर क्रमिक विकास से हुआ। आर्य और अनार्य पूर्ण विकसित होकर समाज चार वर्णों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र रूप में विभक्त हुआ ।

ऋग्वेद के प्रारंभिक काल में केवल दो जाति समूह-एक आर्य एवं दूसरे अनार्य (दास या दस्यु) थे। ये दोनों शारीरिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न थे और गौर वर्ण थे और अनार्य कृष्ण वर्ण । उत्तरवैदिक काल तक आते-आते द्विवर्ण आर्य एवं अनार्य का स्वरूप समाप्त हो गया और इनके स्थान पर चार वर्णों का उल्लेख प्रारंभ हो गया। ऋग्वेद के पुरूष सुक्त की भाँति यजुर्वेद में भी चारों वर्णों के चारों अंगों से उत्पन्न माना गया है । वाजसनेयी संहिता भी चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और आर्य का वर्णन करता है। इस काल में वैश्य वर्ग को 'अनस्य' वलिकृत कहा गया है जिससे पता चलता है कि वैश्य का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय से नीचे था। एतरेय ब्राह्मण से इस काल में वैश्यों के धार्मिक महत्त्व का पता चलता है कि देवकर्म या याज्ञिक कर्म में वैश्य समुदाय का सहयोग आवश्यक था। परन्तु इस युग के पृथक-पृथक नियमों से भी आभास मिलता है कि वर्ण-भेद धीरे-धीरे दृढ़ होते जा रहे थे। जैसा कि ब्राह्मण वर्ण सूत का, क्षत्रिय सन का और वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करते थे। यह सभी वर्णों को पहचान के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यह व्यवस्था की गई थी। तैतयरीय ब्राह्मण से भी पता चलता है कि उनके अग्निहोत्र का समय अलग था ब्राह्मण वसंत में, क्षत्रिय का ग्रीष्म काल में, वैश्य का शीतकाल मे, रथकार का वर्षाकाल में होता था ।[3]

महाकाव्यकालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित थी। ऋग्वेद की तरह रामायण में भी वर्णों की उत्पत्ति परम पुरूष से बतायी गयी है।[4] महाभारत के अनुशासन पर्व और महाभारतीय गीता भाग में वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। स्मृतियों और पुराणों में भी वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। मनु और याज्ञवल्क्य[5] का मत है कि चातुर्वण्य के अतिरिक्त और कोई पंचम वर्ण नहीं है। वायु, मत्स्य और विष्णु पुराणों में भी वर्णों के विभिन्न अंगों से उदभूत होना बताया गया और चारों वर्णों के कर्म निर्धारित किये गये हैं। अभिलेखों से भी पता चलता है कि वर्ण-व्यवस्था को स्थिर रखने का प्रयास किया गया था। बौद्धकाल तक वर्ण-व्यवस्था विकृत रूप प्राप्त कर चुकी थी। शुंगों के शासन काल में इसे एक नवीन जीवन प्राप्त हुआ। नासिक अभिलेख से पता चलता है कि गौतमी पुत्र शतकर्णी द्वारा वर्ण-व्यवस्था की पुर्नस्थापना हुई और उसने वर्ण-संकरता पर भी रोक लगायी। गुप्तों, वाकाटकों, मौखरियों, परिव्राजकों, शंकलयनो, वल्लभी और मालवा के

नरेशों के लेख सामाजिक इतिहास पर प्रकाश डालते हुए वर्णाश्रम-धर्म के नियमन का भी उल्लेख करते हैं। हर्षकालीन अभिलेखों से भी पता चलता है कि प्रभाकर वर्धन ने वर्णाश्रम-व्यवस्था को स्थिर रखा था।

विदेशी यात्रियों के विवरणों में सामाजिक व्यवस्था के चित्रण में वर्णाश्रम धर्म का उल्लेख प्राप्त होता है। फाहियान के अनुसार[6] सभी वर्ण अलग-अलग नियमों के अनुसार रहते थे और अपने वर्णों में ही विवाह करते थे । राजा वर्णों और आश्रमों का रक्षक था और वर्णों की सीमाओं का अतिक्रमण न करने वाला माना गया। अरब लेखकों में अबूजैद सराफी, अलमसूदी, अलबरूनी ने भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन का मूलाधार थी और समाज की रचना में राजा का महत्त्वपूर्ण योगदान था ।

वर्ण-व्यवस्था के उद्‌भव और विकास के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी विचार दिया गया है। पर, दुर्भाग्यवश इस संबंध में कोई सर्वसम्मत मत नहीं रहा है। मैक्समूलर ने कहा है कि निश्चयतः कुछ नहीं कहा जा सकता है कि वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार बना हुआ है। फिर भी, पाश्चात्य विचारकों की चाहे जो भी धारणा हो, परन्तु वह निश्चित है कि यजुर्वेद और ब्राह्मण साहित्य के युग में वर्ण-व्यवस्था का विकास हो चुका था और 'वर्ण' शब्द का प्रयोग सामाजिक संस्था के अर्थ में किया जाने लगा था । परम्परा के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के संबंध में ।

श्रीमदभागवत गीता[7] में स्वयं भगवान कृष्ण ने कहा है कि गुण एवं कर्म के आधार पर मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है। यहाँ वर्ण में उत्पत्ति विराट्‌पुरुष के विभिन्न अंगों से बतायी गयी है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन अंगों में वर्णों को उत्पन्न करने की क्षमता थी। यह वर्णन पूर्णतया प्रतीकात्मक है एवं अंगों की उच्चता के अनुसार वर्णों की विशेषता को दर्शाता है ।

- रंग के सिद्धान्त पर
- गुण के आधार पर
- जन्म के आधार पर

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर रंगों के आधार पर आर्य और दास की भिन्नता का उल्लेख मिलता है ।[8] वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार रंग माना गया है । 'शान्तिपर्व' से ज्ञात होता है कि चारों वर्णों के चार अलग-अलग रंग थे । ब्राह्मण का रंग श्वेत, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला, शूद्र का काला रंग था ।[9] प्रारंभ में केवल एक वर्ण था । कर्म-विभेद के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि हुई जो चारों रंगों, चारों गुणों के प्रतीक थे । वर्ण का आधार ही कर्म है । श्वेत रंग सत्वगुण का लोहित रजोगुण का, पीला रजो और मिश्रित एवं काला तमोगुण का ।[10] छान्दोग्यउपनिषद में भी उल्लेख मिलता है कि जो मनुष्य रमणीय या शुभ कार्य करते है वे ब्राह्मण योनि में उत्पन्न होते है ।[11] प्रायः ! पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में जन्म लेते हैं ।

संदर्भ ग्रंथ

1. प्राचीन भारतीय सामाजिक आर्थिक संस्थाएँ, पृ.26
2. ऋग्वेद 1/73/7
3. वाज. सं. 2.0.2
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण-1.1.4
5. रामा., 3/14.29.30
6. मनु 1, 10, 4
7. याज्ञ. 1.10
8. यात्रा वृतांत-1.168
9. ऋसं.-10/90/12
10. चातुंवर्ण्य मयासृस्टं गुणकर्मविभागशः ।
    तस्य कर्तारमपि मांविद्धयकर्त्तारमण्ययम/गीता 4/13
11. महा. शान्ति पर्व-185.5 ब्रह्मणानां तुसितो खत्रियाणातु लोछितः ।
    वैश्याना पीतको वर्ण शूद्वणाभसितस्तथा

डॉ. भारती कुमारी

असिस्टेंन्ट प्रोफेसर,

ए. आई. एच. एण्ड सी. विभाग, ए. पी. एस. एम. महाविद्यालय, बरौनी, बेगूसराय

मध्यकालीन भक्त संतों की बायोपिक फिल्म में लोकप्रिय जीवन-आख्यान और युग-बोध

—समरेन्द्र कुमार

फिल्में हमारी लोकप्रिय सांस्कृतिक परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गई हैं। सिनेमा के आरंभिक दौर में मध्यकालीन भक्त संत कवियों के जीवन को आधार बनाकर कई फिल्मों का निर्माण हुआ, जिन्हें आज 'बायोपिक' कहा जाता है। इसी तरह उनके लिखे पदों या भजनों का भी फिल्मी गीतों के रूप में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपयोग किया गया है। कई हिंदी फिल्मों में उनके या उनकी कविताओं के इर्द-गिर्द समृद्ध रूपक गढ़े गए हैं। सांस्कृतिक विरासत को सहेजकर नहीं रखने की हमारी प्रवृत्ति के कारण भारतीय कला के बहुत-से अमूल्य धरोहर काल-क्रम में नष्ट हो गए, भारतीय फिल्में भी इसकी शिकार हुई हैं। मूक जमाने की अधिकांश फिल्में आज या तो अप्राप्य हैं अथवा खंडित रूप में मिलती हैं, बहुत सारी फिल्मों के अभिनेता के तो नाम भी नहीं ज्ञात हैं। वाक् फिल्मों के दौर की फिल्में जरूर मिल जाती हैं, लेकिन उनमें भी बहुत-सी फिल्में संरक्षण के अभाव में विलुप्त हो चुकी हैं।

मध्यकालीन भक्त संत कवियों पर बनी आरंभिक फिल्मों में एक 'मीराबाई' है, जिसका निर्माण सन् 1921 में कोहेनूर फिल्म कंपनी ने किया था।[1] न्यू थियेटर्स, कोलकाता द्वारा निर्मित और देवकी बोस द्वारा निर्देशित 'राजरानी मीरा' (1933), बाबूराव पेंटर की फिल्म 'साध्वी मीरा'(1937), शालीमार पिक्चर्स, पुणे द्वारा डब्ल्यू. जेड. अहमद के निर्देशन में मीरा पर एक फिल्म (1947), प्रफुल्ल राय के निर्देशन में 'गिरिधर गोपाल की मीरा' (1949) आदि मीराबाई के जीवन पर बनने वाली फिल्में हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश, इनमें से कोई भी फिल्म आज उपलब्ध नहीं है। मीराबाई के जीवन पर आधारित फिल्मों में सबसे पुरानी उपलब्ध फिल्म सन् 1945 की तमिल फिल्म 'मीरा' है, जिसका हिंदी रूपांतरण 21 नवंबर, 1947 में प्रदर्शित हुआ। इस फिल्म में कर्नाटक गायन शैली की सुप्रसिद्ध गायिका एम. एस. सुब्बुलक्ष्मी ने मुख्य भूमिका निभाई थी तथा हिंदी संस्करण में सुश्री सरोजिनी नायडू ने फिल्म का परिचय दिया था।[2] जी. पी. पवार द्वारा निर्देशित 'राजरानी मीरा' (1956), सतीश कुमार के निर्देशन में मीरा-श्याम (1976), प्रसिद्ध गीतकार और निर्देशक गुलजार द्वारा 1979 में निर्मित 'मीरा' तथा विजयदीप के निर्देशन में बनी 'मीरा के गिरिधर' (1993) मीराबाई के जीवन पर बनी फिल्में हैं।

मध्यकालीन भक्तों में सर्वाधिक फिल्में मीराबाई पर ही बनी हैं।

तेरहवीं सदी के मराठी भक्त संत ज्ञानेश्वर पर प्रभात फिल्म कंपनी ने 'ज्ञानेश्वर' नाम से फिल्म का निर्माण किया। सन् 1940 में प्रदर्शित इस फिल्म का निर्देशन दामले-फत्तेलाल (विष्णुपंत गोविंद दामले और शेख यास्मीन फत्तेलाल) ने किया था। 'संत ज्ञानेश्वर' नाम से सन् 1964 एवं 1982 में दो अन्य फिल्मों का निर्माण हुआ। 1964 में आई फिल्म का एक गीत 'जोत से जोत जलाते चलो, प्रेम की गंगा बहाते चलो' आज भी अत्यंत लोकप्रिय है। सत्रहवीं सदी के प्रसिद्ध मराठी भक्त कवि तुकाराम के जीवन पर कई भाषाओं में फिल्मों का निर्माण हुआ है। मूक फिल्मों के दौर में कलानिधि पिक्चर्स ने 1921 ई. में एक फिल्म का निर्माण किया था। पुणे की प्रभात फिल्म कंपनी की 'संत तुकाराम' नाम से निर्मित और 12 दिसम्बर, 1936 ई. को प्रदर्शित फिल्म का निर्देशन दामले-फत्तेलाल ने किया था। फिल्म में विष्णुपंत पगणिस, गौरी, कुमार पंडित दामले आदि ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई थीं। यह अपने दौर की अत्यंत प्रशंसित और व्यावसायिक दृष्टि से सफलतम फिल्मों में से एक थी। इस फिल्म ने बंबई (वर्तमान मुंबई) के सेंट्रल टाकीज में दिसम्बर, 1937 में 52 सप्ताह पूरा किया था और उसके बाद भी यह फिल्म चल रही थी।[3] फिल्म समीक्षक प्रह्लाद अग्रवाल लिखते हैं, ''प्रभात की सबसे कामयाब फिल्म संत तुकाराम ही थी। जिस जमाने में किसी फिल्म के एक लाख के व्यवसाय को बड़ी कामयाबी माना जाता था। इसने आठ लाख रुपये की कमाई की थी।''[4] फिल्म को वेनिस में आयोजित पाँचवें इंटरनेशनल एक्जीहिबिशन आफ सिनेमैटोग्राफ आर्ट में विश्व के तीन सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में स्थान दिया गया था। हिंदी में सन् 1965 में अशोक फिल्म्स के बैनर के अंतर्गत संत तुकाराम पर बनी फिल्म में शाहू मोदक और अनीता गुहा ने प्रमुख भूमिका निभाई।

बंगाल के प्रसिद्ध भक्त चंडीदास के जीवन पर न्यू थिएटर्स के लिए देवकी बोस ने 1932 ई. में बांग्ला में फिल्म का निर्माण किया। बाद में, 1934 में इस फिल्म का हिंदी संस्करण बनाया गया, जिसका निर्देशन नितिन बोस ने किया था। इस फिल्म में कुंदन लाल सहगल ने चंडीदास की भूमिका निभाई, जबकि उनकी प्रेमिका रामी धोबन की भूमिका उमा शशि ने निभाई थी। इस फिल्म के संवाद और गीत को पारसी रंगमंच के प्रसिद्ध नाटककार आगा हश्र कश्मीरी ने हिंदी में अनुवादित किया था। यह अपने समय की चर्चित और सफल फिल्मों में एक साबित हुई। यह एक भावनात्मक फिल्म थी जिसमें चंडीदास और रामी के प्रेम और संघर्ष को परदे पर उतारा गया। इस फिल्म में भक्त कवियों पर बनी अन्य बायोपिक की तरह अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ नहीं है बल्कि जातिगत भेदभाव, छुआछूत की समस्या और मंदिरों में दलितों के प्रवेश जैसी समस्याओं को केंद्र में रखकर मनुष्यता और प्रेम को स्थापित किया गया है।

निर्गुण भक्त कवि कबीरदास के जीवन पर यूनिटी प्रोडक्शन ने 'भक्त कबीर' नाम से 1942 ई. में फिल्म का निर्माण किया है, लेकिन यह फिल्म उपलब्ध नहीं है। रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर सन् 1939 में रंजीत मूवीटोन ने 'संत तुलसीदास' फिल्म का निर्माण किया, जिसका निर्देशन जयंत देसाई ने किया था। बाद में रत्नदीप पिक्चर्स द्वारा सन् 1954 में 'तुलसीदास', सन् 1964 में बी. के. आदर्श द्वारा फिल्म 'गोस्वामी तुलसीदास', सन् 1972 में फिल्म 'संत तुलसीदास' तथा 1992 ई. ममता मूवीटोन ने 'तुलसीदास' फिल्म का निर्माण किया। कृष्ण भक्त कवि सूरदास के जीवन पर सन् 1939 में प्रभात पिक्चर ने 'भक्त सूरदास' नाम से फिल्म का निर्माण किया। सन् 1942 में बनी रंजीत मूवीटोन की फिल्म 'भक्त सूरदास' में के. एल. सहगल ने मुख्य भूमिका निभाई थी। इस फिल्म का गीत-संगीत काफी लोकप्रिय हुआ था यद्यपि फिल्म उपलब्ध नहीं है लेकिन इसके गीत यूट्यूब पर मिल जाते हैं। इस फिल्म को दर्शकों ने काफी पसंद किया था। इसके बाद सन् 1988 में 'चिंतामणि सूरदास' नाम से एक फिल्म का निर्माण किया गया।

संस्कृत की कालजयी रचना 'गीत गोविंद' के रचयिता वैष्णव भक्त जयदेव के जीवन पर 'गीत गोविंद' नाम से बनी फिल्म 1948 में प्रदर्शित की गई थी, फिल्म का निर्माण कानू देसाई ने और निर्देशन रामचंद्र ठाकुर ने किया था। पंद्रहवीं शताब्दी के प्रखर वैष्णव भक्त चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर बांग्ला भाषा में कई फिल्में बनी हैं, हिंदी में भी इस दिशा में एक-दो प्रयास हुए। 1954 ई. में विजय भट्ट ने 'श्री चैतन्य महाप्रभु' फिल्म का निर्माण और निर्देशन किया, फिल्म में उस समय के प्रसिद्ध अभिनेता भारत भूषण ने श्री चैतन्य की भूमिका निभाई। सन् 2008 में बनी 'श्री चैतन्य महाप्रभु' फिल्म का निर्देशन गूफी पैंटल ने किया। नरसी मेहता पंद्रहवीं सदी के गुजरात के वैष्णव भक्त हैं, जिनका लिखा हुआ भजन 'वैष्णव जन तो तैणे कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे' महात्मा गाँधी को अत्यंत प्रिय था। सन् 1940 में प्रकाश पिक्चर्स ने 'नरसी भगत' फिल्म का निर्माण किया, जिसमें विष्णुपंत पगणिस, दुर्गा खोटे,

राम मराठे आदि ने काम किया था। फिल्म का निर्देशन विजय भट्ट ने किया था। यह अपने समय की सफल फिल्मों में से एक थी। सन् 1957 में बनी 'नरसी भगत' फिल्म में शाहू मोदक, निरूपा राय, ललिता पवार आदि ने मुख्य भूमिका निभाई थी तथा निर्देशन देवेन्द्र गोयल ने किया था। यद्यपि यह फिल्म उपलब्ध नहीं है लेकिन इसके गीत यूट्यूब पर सुने जा सकते हैं।

महाराष्ट्र के तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध भक्त कवि नामदेव के जीवन पर सन् 1949 में 'संत नामदेव' नाम से बनी फिल्म में शाहू मोदक ने मुख्य भूमिका निभाई थी, लेकिन यह फिल्म उपलब्ध नहीं है। इन फिल्मों के अतिरिक्त प्रभात फिल्म कंपनी ने सन् 1936 में भक्त कवि एकनाथ के जीवन पर आधारित 'धर्मात्मा', 1941 में 'संत सखू' और सन् 1949 में 'संत जनाबाई' का निर्माण किया। सन् 1945 में रंजीत मूवीटोन ने 'धन्ना भगत' फिल्म का निर्माण किया जिसका निर्देशन केदार शर्मा ने किया था। सन् 1983 में बाबूभाई मिस्त्री के निर्देशन में बनी फिल्म 'संत रविदास की अमर कहानी' में आशीष कुमार, नीरा, अंजना, जीवन, महिपाल, अनीता गुहा आदि ने अभिनय किया था।

इन भक्त कवियों में जयदेव, चंडीदास, विद्यापति और चैतन्य का संबंध जहाँ पूर्वी भारत (बंगाल-ओडिशा और बिहार) से था, वहीं संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसिंह मेहता आदि का संबंध पश्चिमी भारत (महाराष्ट्र और गुजरात) से, जबकि कबीर, तुलसी, सूर और मीरा का संबंध हिंदी प्रदेश (उत्तर प्रदेश और राजस्थान) से था। इन भक्तों पर आधारित फिल्मों के निर्माण में भी एक पद्धति देखी जा सकती है। सामान्यतः पूर्वी भारत के भक्तों पर कोलकाता स्थित न्यू थिएटर्स ने फिल्में बनाई हैं, तो पश्चिमी भारत के संतों पर पुणे स्थित प्रभात फिल्म कंपनी ने फिल्मों का निर्माण किया, जबकि अन्य भक्तों पर मुंबई स्थित स्टूडियो जैसे रंजीत मूवीटोन ने फिल्मों का निर्माण किया है। फिल्मों में विषय को प्रस्तुत करने की शैली में भी अंतर दिखाई देता है। कोलकाता के न्यू थिएटर्स द्वारा निर्मित फिल्मों में अलौकिक और चमत्कारिक दृश्य नहीं मिलते हैं, इनमें प्रेम-संबंधों और भावनात्मक द्वंद्व देखने को मिलता है। जबकि महाराष्ट्र स्थित स्टूडियो द्वारा बनाई गई फिल्मों की पटकथा में अलौकिक घटनाओं, दैवीय कृपा, चमत्कारिक दृश्यों और लोकमानस में प्रचलित जनश्रुतियों को ज्यादा महत्त्व दिया गया है।

इन फिल्मों में भक्त संत कवियों के जीवन के संबंध में प्रचलित लोकप्रिय आख्यानों का उपयोग किया गया है, न कि अकादमिक दृष्टिकोण का। अकादमिक दृष्टिकोण लोकप्रिय आख्यानों को खारिज करता है, जबकि जनसामान्य उन किंवदंतियों और मान्यताओं पर विश्वास करता है। मध्यकालीन भक्त कवियों के जीवन से जुड़ी जनश्रुतियों और लोक-जीवन में व्याप्त किंवदंतियों का उपयोग फिल्मों में ज्यादा किया गया है। इन भक्त कवियों की जीवन-गाथा से जुड़ी अलौकिक घटनाएँ जनमानस में प्रचलित थी, उनकी स्मृतियों का हिस्सा बन चुकी थी, अतः ये पटकथा के मूल आधार बने हैं। इसलिए इन बायोपिक फिल्मों में अलौकिक चमत्कारिक घटनाओं को प्रमुखता के साथ फिल्मांकित किया गया है। हिंदी सिनेमा के इस आरंभिक दौर में ऐसे दृश य ईश्वरीय शक्ति में विश्वास रखने वाले जनसमुदाय को रोमांचित तो करते ही थे, उनकी भाव-संवेदना को भी छूते थे। चूँकि, मध्यकालीन भक्तों के जीवन से जुड़ी चमत्कारिक घटनाएँ लोकजीवन में प्रचलित थी इसलिए इन्हें दृश्य रूप में परदे पर देखना दर्शकों की स्मृतियों को जीवंत कर देती थी। ऐसे दृश्य दर्शकों को सिनेमाघरों की ओर आकर्षित करते थे।

प्रभात फिल्म कंपनी द्वारा निर्मित फिल्म 'संत तुकाराम' में कई अलौकिक दृश्य हैं, जिनका आधार जनसामान्य के बीच मिथक की तरह प्रचलित कहानियाँ है। फिल्म के एक दृश्य में तुकाराम की पत्नी जिजाई घर की खराब माली हालत के लिए अपने पति के दिन-रात भगवान पांडूरंग की भक्ति में डूबे रहने को जिम्मेदार ठहराती हैं। जब तुकाराम कहते हैं कि भगवान को मत कोसो, तब जिजाई कहती है कि वह इससे भी बुरा करेगी और जब तक वह नहीं जागता तब तक पिटाई करेगी। जिजाई एक हाथ में एक जूता लेकर अपने बेटे को घसीटते हुए मंदिर में जाती है और भगवान पांडूरंग की मूर्ति से कहती है कि तुमने मेरा घर बर्बाद कर दिया है, इसका बाप दिन-रात तुम्हारी प्रशंसा में गीत गाता रहता है, तुम इसे ठीक करते हो या फिर मै.... इतने में कुछ लोग उसे पकड़कर बाहर ले जाते हैं। इसी बीच ईश्वर की कृपा होती है और बीमार पुत्र स्वस्थ हो जाता है। अगर अलौकिक चमत्कार के अंश को हटाकर देखें तो फिल्म का यह दृश्य अत्यंत जीवंत और स्वाभाविक बन पड़ा है। इसी तरह एक अन्य दृश्य में जिजाई जब तुकाराम के लिए भोजन लेकर खेत पर जा रही होती है तो रास्ते में उसके पैरों में कांटा चुभ जाता है, एक वृद्ध व्यक्ति के रूप में भगवान पांडूरंग आकर उस कांटे को निकालते हैं। फिल्म के एक अन्य दृश्य में सूचना मिलने पर मुगल सैनिक छत्रपति शिवाजी को पकड़ने के लिए मंदिर में पहुँच जाते हैं, लेकिन दैवीय चमत्कार के कारण सैनिकों को हर तरफ शिवाजी ही दिखाई देने लगते हैं। फिल्म के

अंतिम दृश्य में तुकाराम का गरुड़ पर बैठकर वैकुंठ लोक प्रस्थान करने का दृश्य भी एक ऐसा ही मिथक है, जिसका निर्वाह इन पर बनी फिल्मों में किया गया है।[5]

संत ज्ञानेश्वर पर बनी फिल्मों में अलौकिक चमत्कार वाले दृश्य के साथ ही उनका जीवन-संघर्ष भी दिखाया गया है। रूढ़िवादी ब्राह्मण समाज उनके परिवार को जाति से वहिष्कृत कर देता है और उनके परिवार के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करता है क्योंकि उनके पिता विट्ठल पंत संन्यास लेने के बाद गृहस्थ जीवन में पुनः प्रवेश करते हैं। रूढ़ियों का शिकार पुरातनपंथी समाज बच्चों को जाति में वापस लेने के लिए प्रायश्चित स्वरूप विट्ठल पंत और उनकी पत्नी को देहत्याग के लिए विवश कर देता है। अनाथ बच्चे जाति में वापसी संबंधी शुद्धि-पत्र लेने पैठन जाते हैं, लेकिन ब्राह्मण वर्ग धर्मशास्त्रों का हवाला देकर इसे देने से इंकार कर देता है। इसके बाद धर्म के वास्तविक स्वरूप को लेकर हुए तर्क-वितर्क के बाद एक भैंस के मुँह से मंत्रोच्चारण का दृश्य फिल्म में दिखाया गया है। संत ज्ञानेश्वर पर बनी फिल्मों में दीवार को चलते और हवा में उड़कर एक जगह से दूसरे जगह पर पहुँचने का दृश्य भी मिलता है। 1982 में निर्मित फिल्म में ज्ञानेश्वर की पीठ पर रोटी सेंकने का एक दृश्य है।[6] इन दृश्यों का संबंध लोक-जीवन में प्रचलित इनकी जीवन विषयक प्रचलित आख्यानों से है।

1940 ई. में बनी 'नरसी भगत' फिल्म के पहले ही दृश य में भजन गाने वाला साधु बालक नरसिंह मेहता से 'राधे गोविंद' बोलने के लिए कहता है, जिस पर उसकी दादी कहती हैं कि यह तो गूँगा है। लेकिन साधु द्वारा बार-बार कहने पर कुछ देर के बाद उसके मुँह से 'राधे गोविंद' का स्वर निकलने लगता है।[7] इस फिल्म में भी दैवीय चमत्कार के कई दृश्य मिलते हैं, जिनका आधार जनमानस में व्याप्त कथाएँ हैं। तुलसीदास का जीवन-चरित्र हिंदी भाषी क्षेत्र में प्रसिद्ध रहा है, जिसे इन पर बनी फिल्मों में फिल्मांकित किया गया है। तुलसीदास द्वारा काशी में हनुमान का दर्शन और उनकी प्रेरणा से चित्रकूट में राम और लक्ष्मण के दर्शन का प्रसंग फिल्मों में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त तुलसीदास की कृपा से राजा टोडरमल के मृतक पुत्र का जीवित होने की जनश्रुति को भी फिल्मों में दिखाया गया है।

कृष्णभक्त मीराबाई का जीवन जितना संघर्षपूर्ण और भावनात्मक उतार-चढ़ाव से भरा रहा है, उतना ही उनके जीवन के संबंध में अलौकिक प्रसंग भी लोकजीवन की स्मृतियों में बसा हुआ है। मीरा के जीवन के ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ही लोकप्रचलित चमत्कारिक प्रसंग भी उनके जीवन पर आधारित सभी फिल्मों में प्रमुखता से देखने को मिलते हैं। विषैला सर्प और विष का प्याला भेजकर मीरा को मारने का प्रयास इनके फिल्मों का अनिवार्य हिस्सा है, जहाँ सर्प फूलों के गुच्छे में बदल जाता है एवं विष का प्याला उनका बाल भी बांका नहीं कर पाता। इसी प्रकार द्वारका के मंदिर में मीरा का कृष्ण की मूर्ति में समा जाने का दृश्य भी फिल्मों का हिस्सा बना है। भक्त संत कवियों में सबसे अधिक फिल्में मीराबाई के जीवन पर ही बनी हैं। इसका कारण उनका संघर्षपूर्ण जीवन, राजपरिवार के साथ द्वन्द्व और जीवन के सबंध में प्रचलित अनेकों जनश्रुतियाँ रही हैं, जो सिनेमाई भावात्मक नाटकीयता के अनुकूल थीं। इसके अतिरिक्त उनके लिखे भजनों और पदों का भी फिल्मों में किसी भी अन्य भक्त कवियों की तुलना में अधिक प्रयोग हुआ है।

मध्यकालीन भक्त कवियों पर निर्मित बायोपिक फिल्मों में सिर्फ अलौकिक चमत्कारिक घटनाएँ ही नहीं हैं अपितु सामाजिक भेदभाव, धार्मिक रूढ़ियों और पुरातनपंथी विचार का चित्रण भी किया गया है। इनमें एक ओर जहाँ उच्च मानव मूल्यों को स्थापित किया गया है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक समरसता का संदेश भी दिया गया है। समकालीन जीवन और जनमानस को युगीन परिवेश के प्रति जागरूक करने का प्रयास भी इन फिल्मों में दिखाई देता है। आजादी के पूर्व भक्त कवियों पर बनी फिल्मों में देश-सेवा का संदेश दिया गया है। इस समय स्वतंत्रता-संग्राम अपने निर्णायक दौर की ओर अग्रसर हो रहा था, इसको ध्यान में रखते हुए प्रतीकात्मक रूप में लोगों को प्रेरित करने का प्रयास कई फिल्मों में हुआ है। सन् 1934 में निर्मित फिल्म 'चंडीदास' के पहले ही दृश्य में पुजारी का संवाद है, ''कल्याणमूर्ति गोपीनाथ, धर्म का प्रेम, देश की सेवा, दीन-दुखियों की सहायता, यही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य है। मैं आशीर्वाद देता हूँ, ये सारा संसार तुम्हारे जय-जयकार से गूँजता रहे। तुम धन्य हो।'' इस पर गोपीनाथ कहता है, ''धर्म और देश की सेवा ही मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है और यथाशक्ति मैं उसी कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ।''[8]

इस दौर में एक ओर स्वतंत्रता का संघर्ष चल रहा था तो दूसरी ओर महात्मा गाँधी और डॉ. अंबेडकर जैसे महापुरुष अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव के विरोध में अपनी आवाज उठा रहे थे। बाबा साहेब अंबेडकर अछूत मानी जाने वाली जातियों को समाज के मुख्यधारा में लाने के लिए, उन्हें मानवीय सम्मान दिलाने के लिए लगातार आंदोलन चला रहे थे। इस संघर्ष की गूंज इन फिल्मों में सुनाई देती है। सन् 1934 में प्रदर्शित न्यू थिएटर्स की

फिल्म 'चंडीदास' के क्रेडिट में लिखा हुआ है, "Based on the life problem of the poet Chandidas – A problem India has not been able to solve. यह समस्या कुछ और नहीं बल्कि जातिगत भेदभाव और छुआछूत का है, जिससे भारतीय समाज आज भी जकड़ा हुआ है। फिल्म में चंडीदास और रामी धोबिन के प्रेम की कहानी है, उन्हें सामाजिक विरोध का सामना करना पड़ता है, विशेषकर सामंती तत्व और पुरोहित वर्ग के प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है। फिल्म के एक दृश्य में जब चंडीदास को अछूत धोबिन स्त्री के साथ संबंध रखने के लिए प्रायश्चित करने के लिए कहा जाता है, तब वह अपने गुरु से कहता है, ''सारे सिद्धांतों और नियमों को एक पल के लिए भूलाकर मैं इस सच्चाई पर पहुँचा हूं कि संसार में मनुष्यता से बढ़कर और कोई चीज नहीं, कोई चीज नहीं।''[9]

मंदिर में अछूतों के प्रवेश का प्रश्न भी 'चंडीदास' फिल्म में उभरकर सामने आया है, जिसका संबंध किसी न किसी रूप में 1920-1930 के दशक में मंदिरों में दलितों के प्रवेश को लेकर चले विभिन्न आंदोलनों से है। नारायण गुरु, ई. वी. रामास्वामी नायकर (पेरियार), डॉ. अम्बेडकर आदि ने इन आंदोलनों का नेतृत्व किया था। फिल्म के एक दृश्य में एक अछूत जाति की स्त्री के मंदिर में प्रवेश करने पर खलनायक गोपीनाथ एतराज करता है। उसके यह कहने पर कि ''तुम मंदिर में किसके हुक्म से चली आई'' रामी धोबिन कहती है, ''हुक्म! हुक्म की क्या जरूरत है?...मैं यह कहती हूँ कि मंदिर के द्वार हरेक के लिए खुले हुए हैं, यहाँ आने का सबको समान अधिकार है।''[10]

इन फिल्मों में मनुष्यता को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है तथा सभी प्रकार के छुआछूत और भेदभाव का निषेध किया गया है। फिल्म 'नरसी भगत' में जब ब्राह्मणों का एक वर्ग उसके मामा शारंगधर से शिकायत करता है कि नरसी भगत अछूत जाति के लोगों के घर कीर्तन के लिए जा रहा है, तब वह पात्र उनके घर पर जाकर उनकी पत्नी से कहता है, ''हमलोग हैं नागर, कुछ वर्णाश्रम धर्म का ख्याल है?'' नरसी भगत की पत्नी उत्तर देते हुए कहती हैं, ''धर्म, मेरे लिए तो भूखों को भोजन कराना ही धर्म है। आज भगवान की प्राण-प्रतिष्ठा थी, बेचारे दर्शन करने आए थे। मैं उनको प्रसादी से क्यों वंचित रखती।'' अछूत जाति के टोले में भजन-कीर्तन करने के लिए पहुँचने पर जब उनका मुखिया कहता है कि यहाँ पधारकर आपने हमें कृतार्थ कर दिया, नरसी भगत कहते हैं, ''भाइयों, सब एक हैं, कौन ऊँच और कौन नीच। समाज भले तुम्हारा बहिष्कार कर दे परंतु भगवान कभी किसी का बहिष्कार नहीं करते। जाति पात जानै ना कोइ, हरि को भजै सो हरि का होई।''[11]

फिल्म 'तुलसीदास' (1954) के एक दृश्य में बालक तुलसी को मारने के लिए दौड़ रहे लोगों को धिक्कारते हुए गुरु नरहरिदास कहते हैं, ''धिक्कार है, तुम्हारे इस धर्म को जहाँ मनुष्य के छूने से मनुष्य को पाप लग जाता है। धिक्कार है तुम्हारे इस पाखंड को जहाँ सबको बनाने वाला, सबका भगवान केवल एक जाति का भगवान माना जाता है।''[12]

'संत ज्ञानेश्वर' (1964) फिल्म में भी रूढ़िवादी ब्राह्मण वर्ग की संकीर्ण मानसिकता के विरोध का स्वर सुनाई देता है तथा मानवीय करुणा को स्थापित किया है। ब्राह्मण होने के बावजूद, ज्ञानेश्वर का परिवार ब्राह्मण वर्ग के दकियानूसी विचारों और श्रेष्ठता-बोध के कारण पीड़ित होता है। संन्यासी होकर पुनः गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने पर ज्ञानेश्वर के परिवार को ब्राह्मण जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है और रूढ़िवादी समाज के दवाब के कारण उनके माता-पिता देह-त्याग के लिए बाध्य हो जाते हैं। जाति में पुनः शामिल होने के लिए ज्ञानेश्वर अपने भाई-बहन के साथ एक महापंडित के पास शुद्धि-पत्र लेने जाते हैं। महापंडित उनसे प्रतिज्ञा करने के लिए कहता है कि तुम किसी अछूत की छाया भी अपने पर नहीं पड़ने दोगे? लेकिन ज्ञानेश्वर इस प्रतिज्ञा से इंकार करते हुए कहता है, ''क्या अछूत चींटी से भी गए-बीते हैं, महाशास्त्री जी?...ऊँच-नीच, छूत-अछूत के ये भेद शास्त्रों में कहीं नहीं?..छूत-अछूत के ये भेद स्वार्थी मनुष्यों के बनाए हुए हैं। ऊँच और नीच में, छूत और अछूत में, मनुष्य और पशु में, सबमें एक ही आत्मा है, प्राणी मात्र से प्रेम करना, प्राणी मात्र पर करुणा रखना यही ब्राह्मण धर्म हैं।''[13]

फिल्म 'चंडीदास' में छुआछूत और जातिगत ऊँच-नीच की भावना के स्थान पर मनुष्यता को सर्वोपरि घोषित करते हुए चंडीदास कहता है, ''अब मैंने तय कर लिया है कि मनुष्यता की पुकार से कोई पुकार बड़ी नहीं है, कोई पुकार बड़ी नहीं, कोई पुकार।''[14] ऐसा कहते हुए सभी प्रकार के धार्मिक-सामाजिक बंधन को तोड़कर चंडीदास रामी धोबिन के साथ एक नए जीवन की शुरुआत के रास्ते पर आगे बढ़ जाता है। 'चंडीदास' फिल्म विकृत वर्ण-व्यवस्था, जातिगत भेदभाव, सामाजिक ढाँचे में शोषण और सामंती उत्पीड़न की कड़वी सच्चाईयों को प्रस्तुत करती है। जिस समय में इस फिल्म का निर्माण हुआ है, उसे देखते हुए यह एक साहसिक कार्य था और निर्देशक नितिन बोस इसमें

सफल रहे हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वाक् फिल्मों के निर्माण के आरंभिक दौर में मध्यकालीन भक्त संतों के जीवन ने फिल्मकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है और लगभग सभी प्रमुख संतों के जीवन पर फिल्में बनी। इन फिल्मों ने जनता को सिनेमाघरों की ओर खींचा और ये व्यावसायिक दृष्टि से सफल भी रहीं। इस तरह की फिल्में आजादी से पूर्व जितनी संख्या में बनी हैं, उतनी बाद में नहीं। इन फिल्मों ने इन भक्तों के जीवन से जुड़े मिथकीय घटनाओं से दर्शकों को चमत्कृत किया वहीं मानवीय करुणा, नैतिक मूल्य और उदात्त भाव-बोध को भी संप्रेषित किया। महाराष्ट्र स्थित फिल्म कंपनियों ने जहाँ चमत्कारी दृश्यों और अलौकिक घटनाओं को प्रमुखता दी है, वहीं कोलकाता के न्यू थिएटर्स की फिल्मों में भावनात्मक द्वन्द्व और मानवीय पक्षों पर जोर दिया गया है, जिस कारण ये यथार्थ के ज्यादा करीब लगती हैं। ये फिल्में हमारी पॉपुलर संस्कृति के अभिन्न अंग हैं जिन्हें सहेजने की जरूरत है।

संदर्भ

1. मनमोहन, हिन्दी सिनेमा का इतिहास, पृ.136, सचिन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1990
2. मीरा, निर्देशक-एलिस आर. डंगन, https://www.youtube.com/watch?v=O05QUww2u7
3. Film India,December 1937, Page-2, (https://archive.org/details/filmindia19373803unse/page/n13
4. मृत्युंजय (सं.), सिनेमा के सौ बरस, पृ. 119, शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण-20035
5. संत तुकाराम, निर्दे ाक- दामले-फत्तेलाल https://www.youtube.com/watch?v=HXFq_X6AdCM
6. संत ज्ञानेश्वर (1982), निर्देशक- एस. एन. त्रिपाठी, 53:40, https://www.youtube.com/watch?v=wnF-VLkIkI0&t=3204s
7. नरसी भगत, निर्देशक-विजय भट्ट, 7:08, https://www.youtube.com/watch?v=oSGcZ6DIY28&t=166s
8. चंडीदास, निर्देशक-नितिन बोस, 2:20, https://www.youtube.com/watch?v=bcbmz8jhSbc
9. चंडीदास, निर्दे ाक-नितिन बोस,1:19:26, https://www.youtube.com/watch?v=bcbmz8jhSbc
10. चंडीदास, निर्देशक-नितिन बोस, 1:02:16, https://www.youtube.com/watch?v=bcbmz8jhSbc
11. नरसी भगत, निर्देशक-विजय भट्ट, 59:38, https://www.youtube.com/watch?v=oSGcZ6DIY28&t=166s
12. तुलसीदास, निर्देशक- बालचंद, हरसुख भट्ट, 4:55, https://www.youtube.com/watch?v=wE5uH0bxSRw
13. संत ज्ञानेश्वर(1964), निर्देशक-मणिभाई व्यास, https://www.youtube.com/watch?v=3 RfP72qUHW 8
14. चंडीदास, निर्देशक-नितिन बोस, 1:31:22, https://www.youtube.com/watch?v=bcbmz8jhSbc

भरत, ब्रेख्त और स्तानिस्लावस्की के सिद्धान्त : अभिनय संदर्भ

—डॉ. मधु कौशिक

कोंस्तांतिन सेर्गेई स्तानिस्लावस्की आधुनिक रंगमंच के निर्माताओं में से एक हैं, जिन्होंने आधुनिक अभिनय पद्धति का व्याकरण गढ़ा। स्तानिस्लावस्की ने अभिनय की जिन प्रविधियों को विकसित किया, उन्हें संक्षेप में 'सिस्टम' या 'मेथड' कहा गया। यह 'मेथड' या 'सिस्टम' कई अर्थों में भरतमुनि की अभिनय दृष्टि तथा अभिनय दिशा के बहुत निकट हैं। स्तानिस्लावस्की के व्याख्याकार बेनेडेटी का कहना है कि स्तानिस्लावस्की का सिस्टम कोई अमूर्त विचार नहीं है। यह प्रयोग तथा प्रक्रिया है। यह काम करने वाले अभिनेताओं की काम की पद्धति है। उसे 'सिस्टम' या 'व्यवस्था' इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि वह सुस्पष्ट तर्कसंगत तथा व्यवस्थित है। शास्त्र या नियम के अंधानुकरण का भरत और स्तानिस्लावस्की दोनों ने विरोध किया था। स्तानिस्लावस्की कहते हैं कि अभिनेता के भीतर जो सहज रचनात्मक व्यवस्था है, वही सिस्टम है, उससे अलग उनका अपना या और किसी का सिस्टम नहीं हो सकता। यह सिस्टम भी स्थिर नहीं है, यह लगातार बदलता है।

भरतमुनि की दृष्टि से भी रंगमंच एक सतत् परिवर्तनशील गद्यात्मक माध्यम है, क्योंकि इसका आधार लोक है। लोक स्वयं लगातार बदल रहा है, तो नाट्य भी स्थिर या अपरिवर्त्य कैसे हो सकता है? ''वास्तव में लोक पर समूचा शास्त्र भी टिका हुआ है, यदि लोक न रहे तो सारे शिल्प और मनुष्यों का सारा कर्तव्य भी समाप्त हो जाएगा।''[1] लोक के साथ नाट्य के लिए अन्य दो प्रमाण भरतमुनि ने बताए हैं। वे हैं, वेद तथा अध्यात्म। अध्यात्म से आशय प्रयोक्ता या अभिनेता की अपनी चेतना से है। भरत और स्तानिस्लावस्की दोनों ही अभिनेता की दृष्टि पर जोर देते हैं। स्तानिस्लावस्की के अनुसार अभिनेता को सबसे पहले अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित रहना जरूरी है तभी वह नाटक की दुनिया रच सकता है। स्तानिस्लावस्की ने अभिनेता को अपने आत्म या सत्व में अवस्थित करने की प्रक्रिया की खोज अपनी नाट्ययात्र में की और उसके द्वारा वे नाट्य के सत्य तक पहुँचे। स्तानिस्लावस्की के अनुसार अभिनेता का लक्ष्य केवल मानवीय आत्मा के जीवन की संरचना नहीं, अपितु उसे सुंदर और कलात्मक सौष्ठव के साथ उपस्थित करना भी है। अभिनेता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी भूमिका को भीतर से जिए और फिर अपने इस अनुभव को बाहर भी रूपायित करे। स्तानिस्लावस्की विसर्जन में अभिनेता के जीवन की अर्थवत्ता देखते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति पावन हृदय के सौन्दर्य तथा विचारों की आग में होती है। इस विसर्जन का संबंध अभिनेता के आंतरिक जीवन से है। यदि भरत की या

भारतीय-परम्परा में नाट्य यज्ञ या वेद है, तो स्तानिस्लावस्की के लिए भी रंगमंच 'कला का देवालय' है, जहाँ केवल उदात्तता और सौन्दर्य के लिए ही जगह है।

भरतमुनि के नाट्य में रस ही नाट्य का प्राण है, रस के बिना नाट्य में कहीं कुछ घटित ही नहीं हो सकता–''न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।''[2] रस की सृष्टि तथा उसके आस्वाद के लिए हृदय की पावनता अपेक्षित है। रंगमंच की प्रक्रिया पर विचार करते हुए स्तानिस्लावस्की भी यही कहते हैं। वे रंगमंच पर विकारों के प्रक्षेप या यथार्थ की सतही अनुकृति का विरोध करते हैं।

रस एक जटिल तथा सम्मिश्र अनुभव है। भरत की दृष्ट से यह नाट्य-संग्रह के ग्यारह तत्वों का निचोड़ है। ये तत्व हैं– रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोध, गान तथा रंग या रंगमंच। इन ग्यारह तत्वों के अन्तःसंबंध तथा अंतःक्रिया में नाट्य निष्पन्न होता है। नाट्यानुभव को स्तानिस्लावस्की भी एक जटिल तथा समिश्र अनुभव मानते हैं। उनके अनुसार नाट्य की संरचना बहुआयामी होती है। कोई भी नाट्यालेख उनके अनुसार सात स्तरों पर रचा जाता है। इन सात स्तरों में बाह्य जगत, नाट्य की सामाजिक अधिरचना, उसकी काव्यात्मकता या रीत्यात्मकता, उसकी सौन्दर्यमूलकता, उसके पात्रों का आभ्यान्तर जगत तथा अभिनेता की भावभूमि–ये सभी समाविष्ट हैं।

धर्मी की अवधारणा नाट्य संग्रह के ग्यारह तत्वों में केन्द्रिय महत्त्व रखती है। रंगमंच पर नाटक की इतिकर्तव्यता तथा उसके अपने मुहावरे में ढलना ही धर्मी का अर्थ है। धर्मी दो प्रकार की है–लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। जिस प्रकार भरतमुनि की धर्मी की अवधारणा में उसके दोनों पक्ष–लोकध र्मी तथा नाट्यधर्मी की अनिवार्यता और अभिभाज्यता एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार स्तानिस्लावस्की में भूमिका के निर्वाह की ये दोनों स्थितियाँ भी परस्पर अनुशक्त हैं। भरतमुनि के प्रस्थान में लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। स्तानिस्लावस्की के प्रस्थान में भी भौतिक दृष्टि तथा आध्यात्मिक दृष्टि एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई है। लोकधर्मी के बिना नाट्यधर्मी नहीं बन सकती और नाट्यधर्मी के बिना लोकधर्मी अपने में कुछ नहीं है। यही बात स्तानिस्लावस्की अपनी यथार्थवाद की अवधारणा में स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्वभाववाद का इसी आधार पर विरोध किया–''उनके लिए प्रकृतिवाद जीवन के सतही वाह्य-स्वरूप की अविवेकपूर्ण अंधाधुंध प्रतिकृति है। दूसरी ओर यथार्थवाद ने वास्तविक दुनिया से सामग्री लेते हुए और प्रत्यक्ष अवलोकन से केवल उन तत्वों का चयन किया, जो सतह के नीचे होने वाले संबंधों और प्रवृत्तियों को प्रकट करते थे।''[3]

नाट्य जीवन का अनुकरण है लेकिन सतही अनुकरण नहीं है। यह भरतमुनि तथा उनकी परंपरा के आचार्यों का मानना है। स्तानिस्लावस्की की भी यही धारणा है कि वास्तविक जीवन और रंगमंच दोनों स्थितियों में एक ही जैसे तत्व होते हैं। जब तक हम वास्तविक जीवन में इस अवस्था में नहीं पहुँचते, हम अपनी भावनाओं के अनुभव के प्रति समर्पित नहीं हो सकते तथा उनकी अभिव्यक्ति में समर्थ भी नहीं हो सकते।''[4] उनके अनुसार अभिनेता सतही यथार्थ को अतिक्रांत करता है। रंगमंच पर यह अतिक्रांति नाट्यधर्मिता के द्वारा संभाव्य होती है। भरतमुनि नाट्यधर्मी का विवेचन इसी अतिक्रांत की अपार सौन्दर्यमूलक संभावनाओं का आख्यान है। स्तानिस्लावस्की के लिए नाटकीयता अभिनेता का सर्वस्व है। यह नाटकीयता रंगमंच में अनेक स्तरों पर अनुप्रविष्ट होती है। नाटक की कथा में कल्पना का पुट यथार्थ की सतही अनुकृति के बजाय, यथार्थ की परतों को उघाड़ने के लिए है। नाटक की कथा रंगमंच पर साकार करने के लिए अभिनेता को फिर इसमें अपनी कल्पना का पुट देना होता है। इसके द्वारा अभिनेता अपने चारो ओर एक रचनात्मक वृत्ति निर्मित कर लेता है और यह रचनात्मक वृत्ति उसे भीड़ के सामने रहते हुए भी अपने में एकांकी बने रहने के लिए सहायक होता है। अपने में एकांकी रहकर वह अपने भीतर के स्रोत से नाट्य को रचता चला जाता है। तब उसे बाहर से प्राप्त मानको, विविध विधानों पर निर्भर नही रहना पड़ता। स्तानिस्लावस्की ने जिसे ''भीड़ के आगे एकान्त'' कहा है, वह भरतमुनि द्वारा चतुर्विध अभिनय के रूप में व्याख्यायित है। आंगिक, वाचिक तथा आहार्य अभिनेता के लिए वाह्य-स्रोत हैं, सत्व उसके भीतर है। सत्व में प्रतिष्ठित रहकर ही वह भूमिका के आरपार देख सकता है। यह देख पाना एक तरह से दूसरे चोले में घुसना होता है। भरतमुनि ने इसके लिए परकाया प्रवेश का ही दृष्टांत दिया है। अभिनेता अपनी साधना, सूक्ष्म-दृष्टि और एकाग्रता के द्वारा अपने खुद के चोले के बाहर आ जाता है और फिर दूसरे के चोले में वह जा सकता है। वाचिक, आंगिक और आहार्य की सारी प्रक्रिया वस्तुतः इसी परकाया प्रवेश के लिए की जाने वाली साधना है। स्तानिस्लावस्की का भी मानना है, ''अभिनेता भी मूलतः रचनात्मक प्रतिभा से ही संपन्न होता है, लेकिन उसे अंतःप्रेरणा से नहीं, वरन जिस स्थान पर, जिस समय भूमिका का निर्वाह करना होता है, उसमें उतरना अनिवार्य है। इसके लिए जरूरी है कि वह अपनी रचनाशीलता को जगाना सीखें।''[5] स्तानिस्लावस्की ने अपनी पुस्तक 'ऐन एक्टर्स प्रिपेयर्स' (अभिनेता की तैयारी) में यह प्रक्रिया

सिखाई है। उनका कहना है कि अभिनेता को अपने चेतन मन के प्रयास से अपने अचेतन मन को जगाना होता है, तभी उसकी रचनात्मक प्रतिभा सजग होती है, और वह अपनी भूमिका के साथ तादात्मय करता है। वे इसकी सिद्धि के लिए दस सोपान बताते है–

(1) यदि (2) दी गई परिस्थितियाँ (3) कल्पना (4) ध्यान का केन्द्रीकरण (5) माँसपेशियों को सामान्य करना (6) प्रसंग तथा समस्याएँ (7) सत्य और विश्वास (8) भावात्मक स्मृति (9) संप्रेषण (10) वाह्य उपादान

ये सारे सोपान पूरी तरह से तर्कसंगत तो नहीं हैं और वे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के दोषों से सर्वथा अस्पष्ट हों, ऐसा भी नहीं है। यदि से आशय है अभिनेता का कल्पना करना, ''अगर मैं नाटक का वह चरित्र होऊँ तो क्या क्या करूँगा।''[6] कल्पना, भावात्मकता स्मृति तथा अवधान एक-दूसरे से बहुत अधिक जुड़े हैं। पहले सोपान-यदि को मिलाकार ये सब उस सारी प्रविधि के करीब पहुँचते हैं, जिसे भरत सात्विक अभिनय कहते हैं। माँसपेशियों को ढीला छोड़ना आंगिक अभिनय की तैयारी है। वाह्य उपादान से तो सीधे-सीधे आशय आहार्य अभिनय से ही है। इस तरह इस सोपान-दशी के द्वारा स्तानिस्लावस्की ने प्रयोग का जो क्रम बनाया है, उसमें अभिनेता को अपने भीतर एकाग्र होना सबसे प्राथमिक आवश्यकता है। भरतमुनि ने अभिनेता के अपने भीतर की इस एकाग्रता को सत्त्व ही कहा है। सत्त्व ही सारे अभिनय का बीज है–''तत्र कार्यः प्रयत्नरतु नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्।''[7] सत्त्व की इस स्थिति में अभिनेता भूमिका में प्रवेश कर जाता है, जैसे एक जीव अपनी देह त्याग कर अन्य देह में प्रवेश करता है।[8]

स्तानिस्लावस्की जब यह कहते हैं कि मै पात्र की सिद्धान्त के भीतर अपने आप को कल्पित कर के देखता हूँ तो वे भरतमुनि के परकाया प्रवेश के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जहाँ तक सिद्ध अभिनेता की बात है तो वह अपने आप को तत्काल आमूलचूल उन क्षणों में बदल डालता है जबकि नौसिखियें को इसके लिए तैयारी या साधना करनी पड़ती है। सिद्ध अभिनेता अभिनय के दौरान स्तानिस्लावस्की के अनुसार एक आविष्ट स्थिति या परचेतना में पहुँच जाता है, जिसके लिए उन्होंने सुपरकांससनेस शब्द का प्रयोग किया है। भरतमुनि ने अभिनेता की इस क्षमता का आँकलन अपने सिद्धि-विचार में किया है। नाट्यप्रयोग में सिद्धि दो प्रकार की है दैवी तथा मानुषी। दैवी सिद्धि में प्रेक्षक प्रयोग के देश-काल से पूरी तरह तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस समय अभिनेता को अभिनेता के रूप में देखता है। भरत तथा स्तानिस्लावस्की दोनों ही दैवी सिद्धि के पक्षधर हैं। इसके लिए अभिनेता को गहरे उतरना पड़ता है। इस प्रकार भरत और स्तानिस्लावस्की दोनों के लिए अभिनयकर्म साधना है। यह साधना करने वाला अभिनेता योगी है। स्तानिस्लावस्की ने अपने अभिनेताओं को भारतीय योग साधना की प्रविधि को अभिनयकर्म में अपनाने की सलाह दी थी। वास्तव में स्वानिस्लावस्की का काम तथा उनकी सोच पश्चिमी रंगमंच की विकासयात्रा में उस महत्त्वपूर्ण मोड़ को इंगित करती है, जहाँ पश्चिमी रंगमंच भारतीय तथा एशियाई रंग-परंपरा के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ता हुआ विश्व-रंगमंच के लिए नई भूमिका रच रहा है।

बर्तोल्त ब्रेख्त जिस समय रंगमंच पर सक्रिय हुए वह रंगमंच पर यथार्थवादी मुहावरे के एकाधिकार का समय था। वास्तव में समकालीन रंगमंच पर ब्रेख्त का अवतरण एक क्रान्तिकारी घटना थी। ब्रेख्त ने यूरोप के रंगमंच की हालत को ही नहीं बदला, उसके सौंदर्यशास्त्र को भी नया रूप दिया। ब्रेख्त समकालीन रंगमंच पर हावी अरस्तु के सिद्धान्तों-संकलनत्रय विरेचन आदि तथा उन्हें संभव करने के लिए सृजित प्रोसेनियम रंगमंच के दायरे से बाहर निकालना चाहते थे। ब्रेख्त ने अरस्तु से चली आयी नाट्य परंपरा पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए दर्शक एवं अभिनेता के बीच की एक अदृश्य चौथी दीवार को ढहा दिया, जिसे ढाई हजार साल की उस मजबूत परंपरा ने खड़ा किया था। ब्रेख्त रंगमंच को अत्यंत गंभीर महत्त्वपूर्ण और सार्थक सामाजिक कार्य मानते थे। उनका मानना था, ''रंगमंच को .शिक्षाप्रद होना होगा। तेल, बढ़ते मूल्य, युद्ध, सामाजिक संघर्ष, परिवार, वर्ग, गेहूँ, सब्जी और नमक तेल आदि को रंगमंच का विषय बनाना हो या लोगों के क्रियाकलापों को, सामाजिक गतिविधियों को आलोचना का विषय बनाना होगा। सही और गलत का भेद रंगमंच पर उपस्थित करना होगा। रंगमंच पर यह दिखाना होगा कि किस तरह कुछ लोग जान बूझकर व्यवहार करते हैं और समाज का बहुलांश बिना समझे-बूझे जीता है। रंगमंच को दार्शनिक-चिंतको के हाथों में लाना होगा, ऐसे चिंतकों के हाथों में जो केवल जागतिक व्यापार ही दिखलाकर छुट्टी न पा लें, बल्कि वह बताएँ कि उसमें परिवर्तन कैसे आएगा ही।''[9]

ब्रेख्त मानते थे कि नाटक ऐसा हो जो दर्शकों को तटस्य प्रेक्षक बनाकर उसकी चेतना जागृत कर दे। इसलिए नाटक को अपने पात्रों के साथ दर्शक का तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। दर्शक को मूर्च्छित अवस्था में न ले जाकर उसे द्रष्टा रूप में सजग, सचेत बनाना चाहिए ताकि वह सामाजिक समस्याओं, सामाजिक गतिविधियों का आलोचक बन सके। उन्होंने अपने इस एपिक

थियेटर की अवधारणाओं को बहुत गहराई से आजीवन अपने रंगकर्म का हिस्सा बनाए रखा और इसे जिया। ''ऐसा नहीं है कि एपिक शब्द का उपयोग करने वाले ब्रेख्त प्रथम व्यक्ति थे। अ-अरस्तु नाटकों का बीज, ब्रेख्त से बहुत पहले जर्मन नाट्यकर्म में पड़ चुका था। लेंज़, बुखनर, हॉटमान, ग्राब, बेडेकिंड जैसे कवि/नाटककारों ने अपनी रचनाओ में एपिक शैली का प्रयोग किया।''[10] लेकिन गौर करने वाली बात यह कि एपिक थियेटर जितने व्यापक रूप से ब्रेख्त के यहाँ आया वह अन्य कहीं इस स्वरूप में गैर-मौजूद है।

चूँकि, ''ब्रेख्त रंगमंच को अत्यंत गंभीर, महत्त्वपूर्ण और सार्थक सामाजिक कार्य मानते थे'',[11] इसलिए जब इन्होने देखा और महसूस किया कि विज्ञान और तकनीक के प्रसार और प्रभाव से जीवन-शैली बदल रही है तो बदलाव की इस प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने के लिए नये रंगमंच की जरूरत को उन्होंने समझा और ड्रामेटिक थियेटर (नाटकीय रंगमंच) की जगह 'महाकाव्यात्मक रंगमंच' (एपिक थियेटर) को स्थापित किया। उनका मानना था कि विश्व में किसी चीज को जब स्वाभाविक और सहज मान लिया जाता है तो इसका मतलब है कि उसे समझने के अन्य प्रयास नहीं हुए। यथार्थवादी रंगमंच तथा उसकी प्रविधियाँ ऐसे ही सहज मान ली गई थीं। यथार्थवादी रंगमंच का जोर दर्शकों के दिमाग की जगह इनकी भावनाओं को सम्मोहित करने पर था। इसके लिए वह यथार्थ का भ्रम रचता था, जिसमें दर्शक कथा एवं पात्र से अपना तादात्म्य महसूस करते थे और क्लाइमेक्स तक पात्र की समस्या का हल पा लेते थे। ब्रेख्त ने महाकाव्यात्मक रंगमंच में दर्शक को प्रेक्षक में बदल दिया जो नाटक को नाटक की तरह एक आलोचकनात्मक दूरी से देखता था। वह सत्य को सहज रूप में देखने की बजाय, उसे एक अन्य कोण से देखता था। महाकाव्यत्मक रंगमंच का नाटकीय रंगमंच से अंतर करते हुए उन्होंने बताया कि महाकाव्यात्मक रंगमंच खेला जाता है और नाटकीय रंगमंच लिखित शब्दों से संचालित होता है। एपिक थियेटर में दर्शकों के सामने की आभासी चौथी दीवार गिर जाती है और वह सही मायनों में खेल देखता है जिसमें स्थितियाँ, उनकी पूरी पृष्ठभूमि उपस्थित होती है, विरोधी और संगत छवियाँ एक साथ मौजूद होती हैं। इसमें कथावस्तु की जगह आख्यान केन्द्र में होता है। इस आख्यान का विकास रैखिक न होकर वक्र होता है। वहीं अगर अभिनेता के बारे में बात करें तो ब्रेख्त के रंगमंच का एक मूल सूत्र अभिनेता द्वारा अपनी भूमिका से अलग होकर दर्शक को सीधे संबोधित करना है। हमारे रंगमंच की दुनियाँ मे करीब तीन हजार साल पहले से यह चीज मौलिक रूप से मौजूद रही है और परम्परागत भारतीय नाट्य में अभी भी देखी जा सकती है। इस देश में नाटक की शुरुआत प्रस्तुतकर्ता द्वारा श्रोता या प्रेक्षक से सीधे बातचीत के द्वारा ही हुई। संस्कृत रंगमंच की हजारों वर्ष की परम्परा के जीवित अवशेष कूडियाट्टम में सूत्रधार तथा विदूषक मूल नाटक के साथ काफी आजादी लेते हुए दर्शकों से वार्तालाप करते रहते हैं, एक नाटक की एक प्रस्तुति में केवल विदूषक का संबोध ही कई दिनों तक चलता रहता है। हमारे लोकनाट्यों के कई रूपों में अभिनेता अपने अभिनय में अपनी भूमिका की व्याख्या दर्शक के आगे करने लगता है। यही नहीं, वह उस भूमिका के बारे में गाये जाने वाले समूह गीत में भी शामिल हो जाता है और उसके बाद फिर अपनी भूमिका में लौट आता है। ब्रेख्त ने अभिनेता के लिए इसी स्थिति को आदर्श माना है जहाँ वह चरित्र से अपने को पृथक कर ले। अभिनेता के लिए कतई जरूरी नहीं कि वह खुद को वैसा ही प्रदर्शित करे, जैसा चरित्र उसे अभिनित करना है। उसे सिर्फ उस चरित्र को मंच पर बखान करना है, उसी तरह जिस तरह किसी पुस्तक में उसका वर्णन किया जा सकता है।

संदर्भ

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, पृ. 120-27
2. वही, अ.-6
3. बेनेडेटी, जे.ए, 1982, पृ.11
4. स्तानिस्लावस्की, चरित्र की रचना प्रक्रिया, (अनु.) डॉ. विश्वनाथ मिश्र, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, संस्करण, चतुर्थ, 2019, पृ. 180
5. स्तानिस्लावस्की, अभिनेता की तैयारी, (अनु.) डॉ. विश्वनाथ मिश्र, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, संस्करण, चतुर्थ, 2019, पृ. 9
6. स्तानिस्लावस्की, भूमिका की संरचना, (अनु.) डॉ. विश्वनाथ मिश्र, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, संस्करण, चतुर्थ, 2019, पूरोवाक्
7. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 22.1
8. वही, 21.90.91
9. सहाय, राधा कृष्ण, बर्तोल्त ब्रेख्त, समानांतरनामा, अंक-तृतीय, 2021, पृ. 20-21
10. रंग प्रसंग, वर्ष-7, अंक-2 अप्रैल-जून, 2004, पृ. 33
11. तनेजा, जयदेव, नाट्य प्रसंग, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, प्रथम, 2017, पृ. 20-21

राजस्थानी लोक संस्कृति का स्वरूप

(संदर्भ : समकालीन कथा साहित्य)

—डॉ. केदार प्रसाद मीना
—डॉ. जयसिंह मीना

राजस्थान जितना विशाल प्रदेश है, उसका साहित्यिक क्षेत्रफल भी उतना ही विशाल है और लोक संस्कृति का विस्तार भी उतना ही विस्तृत है। यहां की लोक संस्कृति में अपने प्रान्त की मौलिक विशेषताएँ स्पष्ट झलकती हैं। राजस्थानी लोक गीतों व लोक कथाओं में यहां की संस्कृति बखूबी झलकती है। कई वीर-पुरुष, लोक-देवों के रूप में और नारियाँ देवियों के रूप में पूजी जाती हैं। ये कथाएँ व लोकगीत विविध प्रसंगों, मांगलिक कार्यों, उत्सवों आदि सभी में बड़े ही आदर के साथ गाये जाते हैं। ये लोकगीत संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुंचाते हैं । राजस्थान क्षेत्र का साहित्य अपनी अनोखी विशेषता रखता है। विजयदान देथा, डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, डॉ. मोहन लाल, डॉ. मोती लाल आदि ने इस साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

हम चाहे किसी भी साहित्य या संस्कृति का अध्ययन करें, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भली भाँति समझे बिना अध्ययन में समग्रता नहीं आ सकती। राजस्थानी कथा साहित्य राजस्थानी भाषा के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। साहित्य का चाहे कैसा भी स्वरूप हो हमारी क्षेत्रीय संस्कृति रीति-रिवाज, बोल-चाल, भाषा आदि सभी का प्रभाव लोक संस्कृति में दिखाई देते हैं। राजस्थानी भाषा की कथाओं का परिक्षेत्र भारतीय वाड़मय का अध्ययन अनिवार्य है। विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं का लिखित साहित्य, धार्मिक संस्कार तथा रीति-रिवाज ही भारतवर्ष की मौलिक संस्कृति एकता के परिचायक नहीं है। कथा साहित्य द्वारा भी इस देश को अखण्ड सांस्कृतिक एकता में बांधे रखा है। किसी देश की प्रतिभा विदग्धता तथा उसकी अन्तरात्मा का दर्शन उसकी कथाओं या किंवदन्तियों द्वारा ही होता है। स्थानीय लोक संस्कृति का अपना महत्त्व वहां की समकालीन प्रवृत्तियों पर आधारित होता है। प्रत्येक भाषा में कहानी एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विधा है जिसमें वास्तविक जीवन के यथार्थ तथा मानव के अन्तर्मन की जटिल चेतना व विश्लेषण होता है। कथा समीक्षकों ने

कहानी के मूल्यांकन के लिए उन प्रमुख आधारों को खोजा है जिन पर कहानी का रचना विधान-वहां की संस्कृति पर ही खड़ा होता है। इन्हीं आधारों को कहानी के तत्वों के नाम से अभिहीत किया गया है। शास्त्रीय समीक्षा द्वारा निर्धारित कहानी के प्रमुख तत्व ये माने गये है–कथानक, पात्र, चरित्र, चित्रण, संवाद या कथोपकथन, देशकाल, वातावरण, भाषा शैली और उद्देश्य आदि सभी प्रमुख है।[1]

परिस्थितियों की भिन्नता से जब जीवन के मूल्य बदलते रहते हैं, तब कभी-कभी कहानियों से बड़े लाभ और हानि होने की सम्भावना बनी रहती है। वैसे, सामान्य लोक जीवन में कथाओं का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। ग्रामीण जनता के लिए ये कथाएँ वेद और शास्त्रों का काम करती हैं । शिक्षित व्यक्ति जिस प्रकार अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए वेद और शास्त्रों से तर्क का हवाला देते हैं, उसी प्रकार ग्रामीण व्यक्ति कहावतों, कथाओं व लोक प्रचलित किंवदंन्तियों का आश्रय लेता है। अंध विश्वासों से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी कहावतें, कथाएँ भी ग्रामीण जनता में सुनाई पड़ती हैं जिनसे जुड़े रहना राजस्थानी ग्रामीण जनता के स्वभाव में शामिल है।

हमारी लोक संस्कृति हमारे विकास में सहायक होती है, तो कुछ पहलू इसके बाधक भी साबित होते हैं। राजस्थान के साथ-साथ अन्य सभी राज्यों के साँस्कृतिक पहलू भी इसी तरह के हैं। विद्वान कन्हैया लाल सहगल सही लिखते हैं, 'हमारे देश में स्वर्णिम अतीत के स्वप्न देखने की कथा सी चल पड़ी है, वर्तमान परस्थितियों के अनुकूल अपने जीवन को साँचे में ढाल कर उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करना हमें नही आता। अतीत से प्रेरणा प्राप्त करना बुरा नहीं किन्तु इसका ध्यान रहना चाहिए कि अतीत हमारी उन्नति के मार्ग में रोड़े न अटकाने पावें।'[2] कहानियाँ और कहावतें सभी अपने राजस्थानी स्वरूप के साथ-साथ स्थानीय संस्कृति की झलक इनमें जरूर दिखाई देती है। राजस्थानी संस्कृति में भी बहुत पहलू ऐसे हैं जो पुरुषवादी और सामंती मूल्यों को तरजीह देते हैं। ये पहलू कभी-कभी तो ऐसी पुराणपन्थी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं, जिसमें आधुनिक जीवन का स्पन्दन नहीं मिलता, इसलिए जो निर्जीविता अथवा जड़ता की प्रतीक-मात्र रह कर लोक जीवन के समुचित विकास में बाधा पहुँचाने लगते हैं। ऐसी संस्कृति व्यक्ति के सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यों पर जोर देती है। वैसे भी, बहुत सी कथाओं, कहानियों और किंवदन्तियों में व्यक्ति को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। मां-बाप के दिये संस्कारों के साथ बेटी जब ससुराल जाती है, तब मां भी बेटी को यही संस्कार देती है, 'मेरी लाडो! ससुराल जाकर अपने सास-ससुर की सेवा करना और उनकी इज्जत करना। अब वही तेरा घर है अपने अच्छे व्यवहार से घर को स्वर्ग बना देना।'[3] उक्त उदाहरण रेणु चन्दा की कहानी 'संस्कार' से उद्धृत है । रेणु चंदा राजस्थानी संस्कारों से ओत-प्रोत साहित्य की रचना करने में अग्रणी मानी जाती हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राजस्थानी साहित्य मनुष्य को प्रभावित करने की क्षमता रखता है, इसमें भी विशेषकर लोक साहित्य। ऐसी विधा या साहित्य ने राजस्थानी समाज और संस्कृति को आरम्भिक काल से प्रभावित किया है। स्थानीय साहित्य और लोक साहित्य में वो ज्योति स्तम्भ है, जिनके उज्ज्वल प्रकाश से सम्पूर्ण राजस्थानी समाज आलोकित है, 'परम्परागत राजस्थानी लोक संस्कृति विकृत होने से रूके तथा पारम्परिक राजस्थानी लोकगीत, सुरक्षित एवं अक्षुण्य रहे, शहरी समाज ग्राम्य जीवन के आयामों को भूले नहीं तथा जीवन के मुक्त आनन्द, जंगली-झाड़ी क प्रसंगों और मेलों ठेलों के मस्त समारोहों के लिए लालायित रहे।'[4]

राजस्थान का इतिहास शौर्य एवं बलिदान की गाथाओं से भरा हुआ है जिसका दिग्दर्शन यहां के लोकगीत, लोकगाथा एवं लोक कथाएं कराती हैं। यहां के लोकगीत, लोक कथाएँ समूची संस्कृति के पहरेदार हैं एवं इस वीर प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर को अक्षुण्य रखने का पूनीत कार्य करते हैं। ये सभी (लोक गीत, कथाएँ, राजस्थानी कहावतें, फालिया, पवाड़े) जन भावनाओं तथा आकांक्षाओं के प्रतीक हैं। राजस्थानी लोक साहित्य में पारम्परिक लोकगीतों व कथाओं का अहम स्थान रहा है, जैसे–'पाप रो फल', 'सोने री हरिण', 'रात की राणी सात सहेलियां','परियों का देस', 'सोने का फूल', 'राजारों सपनों' आदि के साथ ही बच्चों के मनोरंजन, ज्ञानप्रदत्त तथा प्रेरणादायक कहानियां भी राजस्थानी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा रही हैं।

राजस्थानी भाषा या साहित्य में अनेक धार्मिक व सामाजिक पर्व तथा अन्य संस्कारों, विधि-विधान के लोक गीतों, लोक कथाओं आदि से सम्पन्न रोचकता प्रदान करते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति के दिल में दया, करुणा व प्रेम का प्रवाह संचारित करते हैं। पहले हमारी संस्कृति या लोक जीवन का वास्तविक आधार ग्रामीण परिवेश में ही विद्यमान रहता था, पर आज ऐसे साधन या तकनीक का विकास हो

चुका है जिससे बहुत सी सरकारी-गैर सरकारी संस्थाओं में ऐसी संस्कृति को जीवित रखने का प्रशिक्षण या सहायता प्रदान की जाती है। 'कथादेश' पत्रिका के एक अंक में प्रकाशित 'वैतरणी' कहानी में रामेश्वर का यह संवाद परम्परा के प्रति मानवीय लगाव को दरशाता है। हम कहीं भी रहें, हमारा रहन-सहन, खान-पान, पहनावा सभी में हमारी संस्कृति का मूल स्वरूप दिखाई देता है। इन्हीं के साथ आज साहित्य का स्वरूप भी बदलता दिखाई देने लगा है। जैसे-जैसे समय बदलता जा रहा है, वैसे-वैसे साहित्यिक अनुभूतियाँ भी बदलती हुई दिखाई देने लगी हैं, जैसे निर्मला तोदी की कहानी का यह उदाहरण–''यार तुम शुरू से ही अपने पापा के लिए बहुत पोजेसिव हो, कम आन ग्रो-अप, दीदी मैं भी ग्रो अप होना चाहती हूं इसीलिए आपको चिट्ठी लिखती हूं कि आप मुझे और बाकी सबको भी अच्छे से समझती हैं....''[5] ऐसी कहानियों में हमारे समाज की वास्तविकता का अहसास होता है। आने वाली पीढ़ियाँ या पाठकों में संस्कृति को जीवित रखने की दृढ़ता का समायोजन होता रहेगा।

राजस्थानी लोक कथाओं में आकाश में उड़ने वाली परियों की कहानियां बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। ये लोक मन को बहुत आकर्षित करती हैं। इनका अपनी इच्छा अनुसार रूप धारण करने वाली घटनाएं बच्चों को बड़ी अच्छी लगती हैं। बच्चे इन्हें सुनते-सुनते मुग्ध हो जाते हैं। प्रत्येक सूबे या क्षेत्र में जनचेतना का साहित्यिक पक्ष बहुत ही मजबूत रहा है जो स्थानीय संस्कृति में एक प्रकार से खाद का काम करता है। इसी से जनसंस्कृति के नवीन संस्कार फलीभूत होते हैं, जो सामाजिक विसंगतियों को दूर कर आपसी भाई चारा फैलाते हैं और मानव समाज को एक प्रगतिशील दिशा देते हैं। उदय शंकर भट्ट का मानना सही है, ''साहित्य जीवन की अजस्र धारा है जो मानव जाति के साथ-साथ चलती है। यदि युग धाराओं को प्रतिबिंबित करता है तो वह उन शाश्वत सत्यों की व्याख्या भी करता चलता है जो युग-युगांत से मानव को आलोकित करता रहता है। साहित्यकार जीवन की समस्याओं की कठोर अभिव्यक्ति को रोक नहीं पाता तब लिखता हैं।''[6]

राजस्थानी लोक जीवन व सामाजिक परिवेश की ऐसी बहुत सी कहानियां लिखी गईं जो समाज को नवीन परिवेश की ओर ले जाती है। स्त्री-पुरुष के बीच की असमानता से भी असहमत होती हैं, जैसे 'अभिमान' कहानी (रेणु चंद्रा) का एक प्रसंग है–''मां बोलती है, बेटी से, तू नहीं पढ सकती क्योंकि तू लड़की है, तेरा भाई ही पढ़ सकता है क्योंकि वह इस घर का वारिस है, 'वह बेटा है तो मैं भी बेटी हूं इस घर की। भैया मान है तो भी शान बनूंगी इस घर की। पढ़ लिख कर तुम्हारे बुढ़ापे का सहारा बनूंगी माँ। निराश नहीं करूंगी कभी। तुम मुझको अभिशाप ना समझो। एक दिन तुम मुझ पर अभिमान करोगी। विश्वास करो मां और मुझे भी पढ़ने दो।''[7]

रेणु चन्द्रा के समान ही अनेक कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से राजस्थान की संस्कृति के प्रगतिशील पहलुओं को पहचान दी है। ये कहानियाँ बताती हैं कि राजस्थानी संस्कृति आज सामन्ती मूल्यों को पालने-पोसने वाली पारम्परिक पहचान से भिन्न अलग और आधुनिक पहचान भी बना चुकी है, जिसमें सार्थकता, अपनापन व जीवन की सम्पूर्णता दिखाई देने लगी है। 'जीवनानुभव को समृद्ध कर चेतना का विस्तार करना साहित्यिक रूपी माध्यम की अनन्य विशेषता है जिसकी प्राप्ति किसी भी श्रव्य-दृश्य संचार माध्यम के द्वारा संभव नहीं हो सकती। गंभीर साहित्य के पाठक प्रत्येक युग में कम रहे हैं।... उनकी पढ़न रूचि की परितृप्ति किसी भी अन्य माध्यम के जरिये नहीं हो सकती, इस सत्य को साहित्यकार भली-भांति जानता है।'[8]

राजस्थान की पारम्परिक संस्कृति के जरूरी तत्वों के अक्षुण्य हेतु बहुत से साहित्यकार, कहानीकार, चारण, भाट, और कवि सभी निष्ठापूर्वक लगे हुए हैं। लोकगीतों के माध्यम से नाच-गाकर राजस्थानी संस्कृति को अक्षुण रखा है, लोकगीतों के हास्य पक्षों ने भी इस काम को सहजता से अंजाम दिया है, जैसे-ढूंढार अंचल का एक हास्य गीत–'चाव-चाव में भूल्याई फूलां की साड़ी/ थोडी डाट रे बाबूड़ा, थारी रेलगाड़ी/ गाड़ी की उतावळ मैं/ मूं बेगी बेगी आई/जीजी का बकसा में साडी फूलां की भूल्याई। इसी तरह, पिछोला री पाळ माळै ठण्डी चालै भाळ ये म्हारी मोरड़ी तू पाणी न मत जावै।'

आज की आधुनिक पीढ़ी भी अपनी इस सांस्कृतिक पहचान से जुड़ी हुई है। अंग्रेजी माध्यम की पढ़ी-लिखी आधुनिक लड़कियां भी इन लोकगीतों को रूचि से गाती हैं।

रविप्रकाश नाग ने राजस्थानी संस्कृति को बचाने के लिए अथक प्रयास किये हैं। इनका 'राजस्थानी गीतां रो गुजरों' का प्रकाशन सराहनीय प्रयास रहा है। जहां विभिन्न अंचलों में बिखरे प्रचलित पारम्परिक लोकगीतों का संकलन कर उनको एक छत्र के नीचे लाने का बहुत से साहित्यकारों

का कार्य रहा है।

वर्तमान समय व्यक्ति को सम्पूर्णता देने में अक्षम रहा है। व्यक्ति आज एक साथ कई भूमिकाएँ निभाता है या निभाने की कोशिश करता है। समाज में रहकर वह तरह-तरह के मुखौटे पहनता है। मानव समाज में स्वार्थ पूर्ण सम्बन्धों की प्रधानता बढ़ती जा रही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के बारे में स्वयं निर्णय लेने की कोशिश करता है। ऐसी स्थिति में उनके सभी प्रयास असफल होते दिखाई देने लगते हैं। वह कुण्ठित होने लगता है तथा जीवन के प्रति निराशा छाने लगती है। इसी के सम्बन्ध में राम विनय शर्मा का समकालीन यथार्थ के बारे में कहना है, ''दुनिया में हर सम्बन्ध किसी स्वार्थ पर टिका हो यह जरूरी नहीं है। मैं दोहरी जिन्दगी नहीं जी सकता। उसमें भावुकता के साथ साहचर्य एवं सामाजिक सरोकार है। दुर्भाग्य से समाज में ऐसे पात्रें की कमी होती जा रही है।''[9]

अतः कहा जा सकता है कि लोक कथा की सौंधी महक के साथ वर्तमान यथार्थ को धोकर लिखी गई बहुत सी कथा-विन्यासों और भाषिक प्रयोगों द्वारा एक ओर समकालीन समाज-राजनीति, कारपोरेट और सत्ता की जटिल साठगांठ और छल-छदम् से आम व्यक्ति अवगत हो रहा है; वहीं विविध आयामों से भी रूबरू आज का पाठक समाज हो रहा है। यह सभी भारतीयता के साथ-साथ राजस्थानी लोकमन की कथा रही है। उसकी अपनी भाषा में उसकी अपनी शैली में यहां का अतीत भी है और वर्तमान भी। इसी संस्कृति और साहित्य से जुड़ा हुआ यह राजस्थानी समाज समृद्ध नजर आ रहा है; और समृद्ध सांस्कृतिक भविष्य की आशा भी प्रबल नजर आती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. कहानी विविधा, डॉ. हेतु भारद्वाज, संस्करण, 2007, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, पृ. 2
2. राजस्थानी कहावतें, डॉ. कन्हैया लाल सहगल, राजस्थान साहित्य संस्थान, जोधपुर, संस्करण, 1997, पृ. 59
3. छोटी सी आशा, रेणु चन्द्रा, दिव्या भारती पब्लिशिंग एजेंसी, जयपुर, संस्करण, 2015, पृ. 04
4. गीतां रो हेलो, रवि प्रकाश नाग, प्रकाशक जय कृष्ण अग्रवाल, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, संस्करण, 1991,पृ. 01
5. कथादेश (पत्रिका), संपादक, हरिनारायण, अंक-जुलाई, 2017, नई दिल्ली, पृ. 73
6. 'आजकल'(पत्रिका), अंक, मार्च, 1998, नई दिल्ली, पृ. 12
7. छोटी सी आशा, रेणु चन्द्रा, दिव्या भारती पब्लिशिंग एजेंसी, जयपुर, संस्करण, 2015, पृ. 35
8. साहित्यिक पत्रकारिता का योगदान, आर. जयचन्द्रन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2018 पृ. 96
9. 'बनास जन' (पत्रिका), संपादक, पल्लव, अंक, 29 (जन-मार्च 2018), दिल्ली, पृ. 238

लेखकद्वय

एसोसिएट प्रोफेसर
शहीद भगत सिंह कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110017

अस्मिता के लिए संघर्षशील आदिवासी

—डॉ. राम किशोर यादव

हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श को आगे बढ़ाने का काम हरिराम मीणा, लक्ष्मण गायकवाड़, महादेव टोप्पो, रामदयाल मुंडा, निर्मला पुत्तुल, कुमार सुरेश, रमणिका गुप्ता आदि ने किया है। इन सभी लेखकों और चिंतकों ने आदिवासियों की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक समस्याओं को उजागर किया है। उनके जीवन में व्याप्त संकट पर प्रमुखता से विचार किया है। आदिवासी साहित्य जीवनवादी साहित्य है। इसमें लक्षित विद्रोह अपनी अस्मिता और हकों के लिए है। आदिवासी समाज की मुक्ति के लिए संघर्षरत आदिवासी वीर पुरुषों का राजनैतिक सामाजिक विद्रोह इनकी मूल प्रेरणा है। यह साहित्य केवल शब्दों में रचा गया भाव नहीं है बल्कि शोषित, उपेक्षित, बहिष्कृत वर्ग की आवाज उठाता है। यह परिवर्तनकामी और संकल्पबद्ध साहित्य है। यह साहित्य क्रांतिकारी है। इसमें प्रतिरोध का भाव विद्यमान है। इसमें विरोध का माद्दा है। इसमें अस्वीकार का साहस है। इसमें स्वीकार की दलीलें हैं, इसमें अनुभव की पूंजी है। इसमें भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिकता है।आदिवासी जंगल में रहते हैं। प्रकृति के पुजारी हैं। जल, जंगल और जमीन के लिए हमेशा संघर्ष करते रहते हैं। वे गहन मानवीय चेतना से युक्त प्राणी है। आदिवासी जीवन के संपूर्ण स्थिति को आदिवासी विमर्श में उभारा गया है। आदिवासी साहित्यकारों ने उनकी जीवन की पड़ताल की है। एक ऐसा विषय है जिसमें जनजातीय जीवन को खंगालने का प्रयास हुआ है। कहा भी जाता है 'राख ही जानता है जलने का स्वाद।' आदिवासी ही अपनी अनुभूति को, अपनी व्यथा को, अपनी पीड़ा को सही परिप्रेक्ष्य में वर्णित कर सकता है। एक ऐसा वर्ग जिसे सभी ने सताया है। प्राचीन समय से अपने अलग जंगल में रहने वाले ये लोग किस प्रकार की यातना का शिकार हैं।

आजादी से पूर्व और आजादी के बाद उनके जीवन स्तर में कोई सुधार नहीं हुआ है। उन्हें न तो कोई विकास का लाभ मिला है न ही मानवीय सुविधाएं। वे निरन्तर प्रकृति की शरण में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी ओर किसकी दृष्टि है। कौन सोचता है कि वे भी मानव हैं? उनकी व्यथा कथा को ही आधार बनाकर आदिवासी साहित्य का सृजन हो रहा है। आज भी वह भारतीय सभ्य समाज का हिस्सा नहीं हैं। जो हमेशा प्रकृति के ऊपर निर्भर है, उनके पास न खेती

के लिए जमीन है न कोई व्यापार है। उनका जीवन कैसे चलता है। इसकी समीक्षा करनेवाला कोई नहीं है। आदिवासियों के संदर्भ में भिन्न-भिन्न मत हैं। डॉ. विजयशंकर उपाध्याय के शब्दों में, ''वन प्रदेशों तथा पर्वतीय प्रदेशों में निवास करने वाले अनेक मानव समुदाय, मानव सभ्यता के विकास क्रम में विभिन्न कारणोंवश पृथक रह गए, पफलतः विकास की रोशनी वहां नहीं पहुंच पायी। इन दुर्गम और पृथक क्षेत्रों में निवास करनेवाले समुदाय सभ्यता के विकास की दृष्टि से अभी तक प्रारंभिक सोपानों पर ही है। इनमें से पृथक समुदाय का अपना नाम है जिससे इन्हें अभिहित किया जा सकता है किन्तु ऐतिहासिक विडम्बना ने इन समुदायों को आदिवासी या जनजाति की संज्ञा दी है।''[1]

आदिवासी देश के मूल निवासी हैं। वे आदिम मानव हैं। वे समूहों में रहते हैं। एक साथ रहकर अपने जीवन का संघर्ष करते हैं। उनके इतिहास, उनका भौगोलिक आधार उनका सामाजिक स्वरूप क्या है, इस पर विभिन्न विद्वानों ने विचार किया है। भारत की आबादी का लगभग 8.08 प्रतिशत आबादी आदिवासियों की है। इन्हें भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के अधीन निर्दिष्ट किया गया है। ''दरअसल यह एक प्रशासनिक शब्द है जिससे किसी विशेष क्षेत्रीयता का संकेत मिलता है। इसका उद्देश्य किसी जन समुदाय की विशिष्टता वैश्विक स्थिति से ज्यादा उसके सामाजिक आर्थिक स्तर का परिचय देता है। किसी समुदाय को जनजाति के तौर पर परिभाषित करते समय उसके भौगोलिक अलगाव, उसकी विशिष्ट संस्कृति, आदिम विशेषताओं (यथा लिखित) आम सामाजिक समुदायों से घुलने-मिलने में संकोच और आर्थिक पिछड़ेपन (यथा लिखित) जैसी बातों का ध्यान रखा जाता है।''[2]

भारत के विभिन्न प्रान्तों में आदिवासी समाज के लोग निवास करते हैं। उनकी क्षेत्रीय स्थिति के अनुसार, संघर्ष का स्वरूप भी भिन्न है। भारत के विस्तृत भूभाग में ये निवास करते हैं। ''भारत में एशिया की विभिन्न दिशाओं तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करनेवाले ये लोग विभिन्न प्रजातियों के भी हैं। अभी तक भारत की आदिम जनजातियों की निश्चित प्रजातीय समूहों में व्यवस्थति करना संभव नहीं हो सका। यद्यपि पर्याप्त पुरातात्विक तथा जीवाश्म संबंधी आंकड़ों के अभाव में भारत के अनेक आदिवासी समूहों के उद्‌भव तथा अनुवर्ती इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान अस्पष्ट है, फिर भी जहां तक ऐतिहासिक काल का संबंध है उनके गौरव तथा पतन की कहानी को प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐतिहासिक आंकड़े अवश्य ही इनके जीवन पर कुछ प्रकाश डालते हैं और हम समस्या की अटकली योजनाओं में लटके रहने के बजाय विश्वसनीय सूत्रों को चुनना प्रारंभ कर सकते हैं।''[3]

आदिवासी समाज पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि इसका भौगोलिक विस्तार है। भारत के उत्तर से लेकर दक्षिण तक पूर्व से लेकर पश्चिम तक इनका फैलाव है। उन्हें भिन्न प्राकृतिक परिवेश में जीवनयापन करना पड़ता है। इनकी भिन्न-भिन्न प्रजातियां हैं। भारत में लगभग 360 प्रमुख जनजातियां निवास करती हैं। विभिन्न भौगोलिक परिवेश में रहने के कारण रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज में भिन्नता देखने को मिलती है। जनजातीय समाज की कुल संख्या 8.35 प्रतिशत है। इन संख्या का अधिकांश हिस्सा मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखंड, महाराष्ट्र, राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल और नार्थ ईस्ट में रहती हैं। करीब-करीब 10 प्रतिशत जनजातियां पूर्वोत्तर भारत में रहती हैं। भारत में लगभग 100 जनजातीय भाषाएं प्रयोग में हैं। इन आदिवासी लोगों में भील, संथाल, उरांव, भुटिया, मुंडा, गोंड, खोंड तथा मीणा जनजातियां प्रमुख हैं। जो सबसे छोटी जनजातियां हैं उनकी संख्या कम है। जैसे ग्रेट अंडमानीज, सेंटनोलीज, आगेए, जवां तथा शोमेन।

भारत में अफ्रीका के बाद सबसे ज्यादा आदिवासी समुदाय के लोग रहते हैं। भारत के मूल निवासी होने के कारण ही इन्हें आदिवासी कहा जाता है। मूलतः ये इंडिजनस पीपल्स हैं। ये समाज जंगलों में, पर्वतों के नजदीक कंदाराओं में रहने वाले लोग हैं। इनकी विविधता में विविध संघर्षमय यात्रा छिपे हैं। ये लोग मूलभूत संसाधनों के अभाव में भी भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को समाहित कर रखे हैं। ये लोग लोभ की प्रवृत्ति से दूर हैं। ये लोग सदियों से सताये गये हैं। ये लोग जंगलों में रहकर कंद-मूल खाकर, पोखरों, झरनों का पानी पीकर अपना जीवनयापन करते हैं। ये लोग अपनी पूरी प्रवृत्ति के अनुरूप आत्मसम्मान से रहते हुए अपनी भाषा, संस्कृति और जीवन शैली को जीवन्त बनाये हुए हैं। आदिवासी समुदाय की स्थिति चिंताजनक है। उनकी दशा को सुधारने का कोई विशेष प्रबंध नहीं किया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.) ने इस विषय पर अपना सरोकार व्यक्त किया है। भारत में भी मूल निवासियों की आबादी

की सुरक्षा हेतु अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (आई.एल.ओ.) के 107वें समझौते पर हस्ताक्षर किये और अपना समर्थन दिया। मूल निवासियों पर अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए भारत सरकार ने बताया कि ''अनुसूचित जनजातियों के लोग मूल निवासी नहीं हैं और भारत की समस्त जनता देश की मूल निवासी ही है। यह भारत सरकार के लिए विवादास्पद विषय रहा है।''4 मूल निवासियों के संदर्भ में जो शब्द प्रयुक्त हुआ है वह 'स्वनिर्णय' है। यू.एन. डब्ल्यू.जी.आई.वी. ने स्पष्टीकरण दिया है, ''इस सबके बावजूद कि भारत मूल निवासियों के अधिकारों के समर्थन में चलाई जा रही परियोजनाओं में आई.एल.ओ. के साथ काम करता रहा है।''5

भारत ने निरन्तर चल रहे परियोजनाओं को गति देकर उनके जीवन स्तर को सुधारने का प्रयास किया है। वहां की स्थानीय कमजोरियों, दुर्गम इलाकों की स्थिति के कारण समुचित विकास संभव नहीं हो पाया है। ये लम्बे समय से शोषण के शिकार हैं। ऐसी स्थिति में रहकर उनके भीतर आक्रोश का भाव पैदा होता है। जैसे-जैसे लोग शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। अपने अधिकारों के लिए सचेत हो रहे हैं। अपनी पहचान को बनाये रखना चाहते हैं। वह स्वतंत्र होकर अपना निर्णय देते हैं। जब वह सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करता है तो पाता है कि उसके हाथ तो अभाव में ही हमेशा रहा है। उसके साथ तो छल किया गया है। उन्हें वंचित और शोषित बनाकर रखा गया है। उनके भीतर इस अत्याचार से मुक्ति का भाव पैदा होने लगा है। उन्होंने सभ्य जातियों के अत्याचार के विरुद्ध बगावत का रास्ता अपनाया। आदिवासी साहित्य में उनकी वेदना, पीड़ा और आक्रोश का भाव विद्यमान है। वे अपनी अस्मिता के लिए संघर्षशील हैं। वे अपने स्वत्व और अस्मिता के लिए हर प्रकार से संघर्ष कर रहे हैं। इसमें आदिवासी स्त्री और पुरुष दोनों शामिल हैं। शोषण और विस्थापन का शिकार उपेक्षित समुदाय, व्यवस्था के मारे हुए लंबे समय से अपनी अस्मिता की तलाश में हैं। वे अपने अधिकार को प्राप्त करना चाहते हैं। अब और इस प्रकार की जिन्दगी नहीं जीना चाहते हैं। तीर और कमान, धनुष और बाण लिये अपने स्वत्व का बोध होने पर अपनी अस्मिता के लिए कृतसंकल्प हैं। इनके भीतर सांस्कृतिक विशिष्टता समाहित है। जीवन के बुनियादी अधिकारों के लिए वे संगठित हो रहे हैं। आज इस समुदाय के लेखकगण कलम की शक्ति से अपने अनुभवों, दुःख, पीड़ा, वेदना और जीवन को एक नया स्वरूप प्रदान कर रहे हैं। उन लोगों तक ज्ञान की रोशनी पहुंच गई है। जंगल में निवास करने वाले ये लोग अब सचेत और जागरुक हो गये हैं। आज का आदिवासी लेखन अपने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक रूपों को उद्घाटित कर समूची व्यवस्था से प्रश्न कर रहा है। उनसे अपने अधिकार मांग रहा है। वह भी कह रहा है कि हम लोग कब तक ऐसे बने रहेंगे। इसके लिए कौन दोषी है। इसके लिए आपने क्या किया? आपका कितना सहयोग है? हमारे ऊपर निरन्तर आपका शिकंजा कसता गया है। हम तो जंगल की लकड़ी काटकर भी अब बेच नहीं सकते हैं। हमारा जीवन कैसे चलेगा? हमारी पीढ़ी का क्या होगा? क्या हम ही दर-दर की ठोकरें खाने के लिए बने हैं? इसका उत्तर कौन देगा? जीवन संघर्ष में वे अकेले हैं। आदिवासी समाज की सांस्कृतिक पहचान को लेकर कई विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं। प्रभु पी. के अनुसार, ''अपने क्षेत्र से उनके खास जुड़ाव और उनके समुदाय का प्रकृति से अंतरंग संबंध उनके लिए अपने स्रोतों का प्रबंध यह नहीं है कि अलग-अलग परिवारों के बीच भूमि का बंटवारा कर दिया जाये।... आदिवासी का क्षेत्र उसकी सामूहिक चेतना का विस्तार होता है। जिसका अपना सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक महत्व है। ... समुदाय की सभी आवश्यकताओं को समुदाय के भीतर ही पूरा करना और अपनी जरूरतों के लिए बाजार पर कम से कम निर्भर रहना समुदाय का अपने क्षेत्र पर जितना राजनीतिक प्रभुत्व होगा उसी अनुपात में ये विशेषताएं उस समुदाय में दृष्टिगोचर हो सकते हैं।''6

आदिवासी जंगल पर निर्भर हैं। जंगल से ही लकड़ी काटना, पत्ते तोड़कर अपना जीवनयापन करते हैं। आदिवासी लोगों को जंगलों से भी वंचित किया जा रहा है। औद्योगिकरण और शहरीकरण के कारण जंगलों पर सरकार का प्रभुत्व बढ़ता गया। फलस्वरूप आदिवासी मजदूर बनने पर मजबूर हो गये। कई प्रांतों में वन उत्पादनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। उन पर वन विभाग नियम लागू हो गया। अब वे बाजार में जंगल से प्राप्त लकड़ी और पत्तों को बेच नहीं सकते हैं। वहां न्यूनतम मजदूरी अधिनियमों तक पालन नहीं किया जाता है। गुजरात और राजस्थान में इसमें छूट दी है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने इसे संविधान का उल्लंघन बताया है। यह जंगल किसका है? किसने सदियों से इसका संरक्षण किया है? यहां कौन से लोग रहते हैं?

इनकी स्थिति क्या है? इस पर किसी ने विचार नहीं किया है। एम. शर्मा 'हूज फारेरट्स? ओनर्स विक्रम वर्करस' की रपट के अनुसार, ''कुल मिलाकर विकास कार्यों के चलते आदिवासियों को अपनी उपजीविका के साधन स्रोतों से हाथ धोना पड़ा है। विकास कार्यों के कारण कुल 1 करोड़ 85 लाख लोगों अर्थात् भारत की कुल जनसंख्या के 2 प्रतिशत से अधिक हिस्से को अपनी बस्तियां छोड़नी पड़ी हैं। विकास परियोजनाओं के लिए विस्थापित लोगों में लगभग 50 प्रतिशत आदिवासी हैं। यद्यपि उनकी आबादी भारत की कुल जनसंख्या का 8.08 प्रतिशत ही है। इतने विशाल परिमाण में विस्थापन के बावजूद सरकार के पास कोई समान पुनर्स्थापन और पुनर्वास नीति नहीं है।''7 आदिवासी की समस्याओं को आदिवासी साहित्य में स्थान दिया गया है। जल, जंगल और जमीन, पर्यावरण मानवीय सभ्यता, मानवीय अस्तित्व, भाषा और संस्कृति तथा भारतीय विरासत को बचाने में इस समुदाय की महत्ती भूमिका है। आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। एक ऐसा विमर्श जिससे इस समुदाय की परंपरा, रुढ़ियां, संस्कृति, अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण सभी कुछ बयान हो रहा है। लोककला, संगीत, नृत्य, संस्कृति, भाषा, बोली, आदि विभिन्न धरातलें आदिवासी लेखन द्वारा परिलक्षित हो रहा है।

आदिवासी समाज में आज कई नई प्रथाएं विद्यमान हैं। लोकगीत, लोकनृत्य और लोकनाट्य का अद्‌भुत रूप उनके यहां मिलता है। उन्हें अभी तक पूर्णतः शब्दबद्ध नहीं किया गया है। वे आज भी मौलिम रूपों में आदिवासी जीवन का अभिन्न अंग हैं। आदिवासी साहित्य को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। आदिवासी समुदाय को अपने मूल से उखाड़ने का प्रयास अनैतिक है। यह अमानवीय है। उनकी इस हालत में सुधार हेतु जल, जंगल और जमीन पर स्वायत्ता जरूरी है। रमणिका गुप्ता के अनुसार, ''आज आदिवासियों को विस्थापित कर उनके जल, जंगल तथा जमीन को तो सरकार हड़प ही रही है, साथ उन्हें बुनियादी अधिकारों से भी वंचित कर रही है। और गैर-आदिवासी लोगों की घुसपैठ के कारण उनकी भाषा भी नष्ट हो रही है। आज अपने ही घर में वे बेगाना हैं आदिवासी। वह अल्पसंख्यक हो गया है।''8

आज मानसिकता में बदलाव करने की जरूरत है। इसके लिए समग्र नीति बनाने की आवश्यकता है। साहित्य में आदिवासी जीवन का वर्णन कम ही किया गया है। किन्हीं छुटपुट लोगों ने ही इसका उल्लेख किया है। सरस्वती पत्रिका (1900) में महावीर प्रसाद द्विवेदी का संकेत है, ''क्षितिज जनों एक और भारत को देखने का मौका मिला जिसकी चर्चा उनके साहित्य में और राजनैतिक लेखन में कम होती है।''9

आदिवासी जीवन को लेकर लेखन करनेवालों में करुणा, व्यथा, जल, जंगल, जमीन है, केचुआ है, मिट्‌टी है, पक्षी हैं, पेड़-पौधे हैं, सूर्य-चन्द्रमा है, पानी-बिजली, झरने, पोखर हैं। आदिवासी स्त्रियों की आहें और कराहें हैं। उनके भीतर विद्यमान अंधविश्वास की परंपराएं हैं। जिन्हें तोड़ने के लिए संदेश दिया जा रहा है। जीवन की सम्पूर्ण का चित्रण ही आदिवासी साहित्य का प्राण है। आदिवासी समाज को जागृत करने की जिम्मेदारी साहित्यकारों पर है। आदिवासी समाज में कुछ ऐसी रुढ़ियां हैं जो आदिवासी स्त्री के विकास में बाधक हैं। आदिवासी स्त्री जब चाहे दूसरा साथी चुनने के लिए स्वतंत्र है। आदिवासी समाज इसके लिए मान्यता देता है। उनका बहिष्कार नहीं करता है। स्वतंत्रता के बावजूद भी वह दोहरी मार झेलती हैं। एक तरफ मुख्य समाज द्वारा शोषित हैं तो दूसरी ओर स्त्री होने की वजह से अपने समाज में शोषित हैं। आदिवासी विमर्श को मुख्य धारा में लाने में निर्मला पुत्तुल, महादेव टोप्पो, रामदयाल मुंडा, हरिराम मीणा तथा वाहरु सोनवर्ण ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हरिराम मीणा की कविताओं में सीधे-साधे आदिवासी जीवन की सहजता को उभारा गया है। उनकी यात्रा-वृतांत 'साइबर सिटी से नंगे आदिवासी तक' और 'जंगल जंगल जलियांवाला' में आदिवासी जीवन का कारुणिक एवं ऐतिहासिक पहलू की झलक मिलती है। तेजिन्दर द्वारा रचित 'काला पादरी' उरांव आदिवासियों की पृष्ठभूमि पर केन्द्रित है। इसमें धर्म-परिवर्तन से उपजी स्थिति से मार्मिक चित्रण मिलता है। राकेश कुमार सिंह का 'पठार पर कोहरा' में शोषण, अन्याय और अत्याचार की स्थिति का वर्णन है। हताशा और निराशा से युक्त एक आदिवासी युवती की संघर्ष गाथा है। 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' नामक लेख में संजीव ने आदिवासी स्त्री की कर्मठता का चित्रण किया है। संजीव के 'जंगल जहां शुरू होता है' में थारू जाति की व्यवस्था का चित्रण है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'अलमा कबूतरी' में कबूतरी जनजाति की अस्मिता के कुचले जाने की कथा कही है। मोहन शर्मा ने 'मीणा घाटी' नामक उपन्यास में भील-मीणा जनजाति के लोगों का चित्रण किया है।

निर्मला पुत्तुल के अनुसार, ''आदिवासी जीवन अपनी धड़कनों, जीवन्ताओं और प्रमाणिकता के साथ विद्यमान है।''10 आदिवासी स्त्री की अस्मिता और स्वाभिमान को मुख्य धारा के समाज का नायक नष्ट कर रहा है। सत्ता, शोषण, बर्बरता सबकुछ आदिवासी अस्मिता को नष्ट करने का औजार मात्र है। इस प्रकार अस्मिता के लिए संघर्षशील आदिवासी अपने भविष्य के लिए कृतसंकल्प हैं। इनमें अदम्य साहस और जिजीविषा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. विद्याभूषण, झारखंड : समाज, संस्कृति और विकास, पृ. 5
2. सारिणी (सं.), इंडिजनस पीपल्स इन इंडिया, सारिणी ऑकेजनल पेपर्स, क्रम 1, भुवनेश्वर, सी.इ.डी.इ.सी. 1997, पृ. 3
3. हसनैन, नदीम, जनजातीय भारत, पृ. 34
4. इंटरनेशनल कन्वेशन ऑफ सिविल एंड पॉलिटिकल राइटस, 1966, पृ. 214
5. इंडिजनस एंड ट्राईबल पीपल्स, जिनेवा, आई.एल.ओ. जुलाई, 1994, पृ. 28-29, 32-33
6. विजोय सी.आर. एवं प्रभु पी., आदिवासी : सिचुएशनल स्टेट्स, 3 इंटर नेशनल अलाएंस ऑफ इंडिजनस टाइब्ल पीपुल ऑफ द ट्रापिकल फारेस्ट, नागपुर, भारत 3-8 मार्च, 1997, पृ. 7
7. शर्मा, एम., हूज फारेस्ट्स? ओनर्स विक्रम वर्कस' लेबर फाइल भाग-3, क्रम 5 व 6 मई जून, 1997, पृ. 16
8. गुप्ता रमणिका, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, खंड 2, पृ. 15
9. शर्मा रामविलास, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, पृ. 175
10. पुत्तुल, निर्मला, नगाड़े की तरह बजते हैं सब, पृ. 30

राम किशोर यादव
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कबीर और संगीत

–रोहित कुमार

इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में आज हमारे सामने राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय महत्व की अनेक समस्याएँ अपने समाधान के लिए मुंह बाए खड़ी हैं। लेकिन ऐसे चुनौती भरे वातावरण में मंदिर-मस्जिद विवाद के एक छोटे से मसले ने सांप्रदायिक कट्टरपंथ और धार्मिक तत्ववाद का सहारा लेकर देश को एक ऐसे विस्फोटक बिन्दु पर खड़ा कर दिया है, जहां से आगे राह नहीं मिल पा रही है। सांप्रदायिक विद्वेष की इस गंभीरता को आज से छः सौ साल पहले रेखांकित करते हुए कबीर ने कहा था–अरे इन दोउन राह न पाई। आज की विचारधारात्मक उठापटक और सामाजिक वितंडावाद के बीच अनेक बार कबीर के बानियों की सार्थकता बताई जाती है। तब यह सोचना लाजमी हो जाता है कि छः सौ सालों में कबीर हमारे अंतर तक पहुंचे क्यों नहीं! काशी में रहकर पंडितों से लड़ने वाले, व्याप्तभ्रांति के खिलाफ 'मनसा, वाचा, कर्मणा' से जीवन जीने वाले एक व्यक्ति की बातों को प्रासंगिक माना जा रहा है तो उसकी पहुँच अब तक कहाँ तक थी? कबीर की कविता में लोक और उसके समन्वय की चिंता व्याप्त थी। मनुष्य मात्र के प्रति चिंतित थे कबीर लेकिन उनकी वह चिंता मनुष्य तक किस विस्तार के साथ पहुँच पायी?

कबीर बस उतने भर नहीं हैं जो किताबों में संकलित है। गायन की वृहत्त परंपरा में कबीर रोज रचे जाते हैं और होली के जोगिरा से मरसिया तक में कबीर गाये जाते हैं। उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता पर सवाल बना रहेगा। कबीर को वर्षों से समाज में प्रवाहित करने वाली गायन की परंपरा का कबीर 'केत कबीर' या 'कहत कबीरा' में रचे पदों में मिलता है और तब बहुत हद तक समझ आता है कि उनकी 'सधुक्कड़ी' भाषा ऐसे ही न बनी होगी। कबीर हर प्रदेश में उनकी स्थानीय भाषा के साथ अनुकूलित होते गए। आज राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार जहां भी कबीर को सुन लें, लगेगा कबीर यहीं के थे। कबीर ने कई पदों में वाद्य यंत्रों के रूप तथा बनावट की ओर भी संकेत किया है।

अवधू नादें ब्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहीं देखै नेड़ा, ढूंढत बन बन डोलै।।
चंद सूर दोई तूंबा करीहूं, चित चेतन की डांडी।
सुष्मन तांती बाजण लागी, इहि विधि तृष्णा शांडी।।[1]

अर्थात 'हे अवधूत क्या तुम्हें पता नहीं कि बिन्दु के स्थिर होते ही अपने भीतर 'नाद' की घोर गर्जना होने लगती है और अनाहत शब्द बोलता सुन पड़ने लगता है? तुम अपनी काया के अंदर के इन रहस्यपूर्ण व्यापारों की ओर ध्यान नहीं देते और जंगलों में घूमा करते हो? देखो, मैंने अपनी तृणा को नष्ट करने के लिए चंद्रमा (इड़ा) तथा सूर्य (पिंगला) नाड़ियों के दो तूंबें जोड़ कर अपने चेतन की डांडी सजा ली थी जिससे मेरी सुषुम्ना के तांत के झंकृत हो उठने में विलंब नहीं लगा। इस प्रकार मेरा काम सहज ही सध गया।[2]

कबीर ने अपने कई रचनाओं में सारे शरीर को यंत्र के रूप में चित्रित किया है। कई-कई जगहों पर स्पष्ट शब्दों में शरीर को रबाब का नाम किया है। उन्होनें कहा है, इस तन रूपी रबाब की तांत इसकी रगें बनी हुई है जिन्हें विरह सदा बजाता रहता है, जिसे या तो हमारा स्वामी सुनता है अथवा चित्त सुन पाता है। दूसरे किसी को भी वह सुनायी नहीं देता।

सब रंग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त।।[3]

लोक प्रचलित कबीर को जब हम गायन में ढूंढते हैं तब 'यह तन ठाट तंबूरे का' गाया हुआ मिलता है, यहाँ भी तन को तंबूरे सा माना गया है।[4] कबीर खुद में रमे रहने का पाठ पढ़ाते हैं और तब संगीत उनपर हावी होता है। एक स्थान पर वे कहते हैं :

जोगिया तन की जंत्र बजाइ, ज्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ।
तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सरि लगाइ।[5]

अर्थात, अरे जोगी तू अपने शरीर के ही वाद्य-यंत्र को बजाया कर और इसे ऐसा रूप दे दे जिसमें उस यंत्र की तांत का काम तो तत्व करें, उसकी डांडी धर्म बन जाए और उस वीणा की सारिका का सत्य हो जाय जिसके द्वारा उसमें से स्वर निकलने लग जाए। एक जगह कबीर ने इसे तरह के रूपक और स्पष्ट रूप से गढ़े हैं।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै, ताका सबद गगन में गाजै ॥टेक॥
सुर की नालि सुरति की तूंबा, सतगुर साज बनाया।
सुर नर गण गन्धप ब्रह्मादिक, गुर बिन तिहनूँ न पाया॥
जिभ्या तांतिनासिका करहीं, माया का मेंण लगाया।
गमाँ बतीस मोरणा पांचों, नीका साज बनाया॥
जंत्री जंत्र तजै नहिं बाजे, तब बाजै जब बावै।
कहे कबीर सोई जन सांचा, जंत्री सूं प्रीति लगावै॥[6]

कबीर कहते हैं, यंत्रकार का अनुपम यंत्र सदा बजा करता है। उसका शब्द आकाश तक में अथवा काया के भीतर वाले शून्य गगन में गर्जन करता रहता है। उस यंत्र की डांडी अथवा दंड तो स्वर का है, किन्तु उसके दो तूम्बे दो श्रवणेंद्रियों के बने हुये हैं। उसे स्वयं सतगुरु ने ही सजाया है। उसके शब्द का पता, बिना गुरु की सहायता के आज तक देवता, मनुष्य, गंधर्व और ब्रह्मादि तक को नहीं चल सका। उस यंत्र की तांत का काम जीभ करती है। उसकी खूंटी अथवा 'कौड़ी' नाक बन जाती है और उसमें माया का मोम लगा रहता है। उसमें गमक वाली मधुर ध्वनि बत्तीस नाड़ियों से निकलती और पंच-प्राण वहाँ मोरणा का काम करते हैं। इस प्रकार पूरा साज तैयार हो जाता है। यंत्रकार द्वारा त्याग कर दिये जाने पर वह बज नहीं पाता। जब वह बजाता है, तभी बजा करता है। इस कारण सच्चामनुय वही है जो उस यंत्रकार के साथ प्रेम का संबंध रखता है।

कबीर के एक पद में शिव गीतों की प्रतिध्वनि भी हमें मिलती है, जहां शिव का नटराज रूप सामने आता है–

नाचु रे मेरे मन मत्त होय।
प्रेम को राग बजाय दैनंदिन शब्द सुनै सब कोइ।
राहुकेतु नवग्रह नाचौ, लोक नाचौ हँस रोइ।
छापा तिलक लगाइ बाँस चढ़, हो रहा जग से न्यारा।
सहस कला कर मन मेरौ नाचौ, रीझै सिरजन हारा।[7]

कबीर के सबसे प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों में से 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत उनके पद क्रमशः सिरी रागु, रागु गउड़ी, रागु आसा, रागु जरी, रागु सोरठि, रागु धनासरी, रागु तिलंग, रागु सूही, रागु बिलावल, रागु गौड़, रागु रामकली, रागु मारू, रागु केदारा, रागु भैरउ, रागु बसंत, रागु सारंग तथा रागु प्रभाती के अनुसार विभाजित है। इसी प्रकार 'कबीर ग्रंथावली' में उनका वर्गीकरण क्रमशः राग गौड़ी, राग रामकली, राग आसावरी, राग सोरठि, राग केदारौ, राग मारू, राग टोड़ी, राग भैरू, राग बिलावल, राग ललित, राग बसंत, राग माली गौड़ी, राग कल्याण, राग सारंग, राग मलार तथा धनाश्री के अनुसार किया गया मिलता है।

कबीर ने अपने पदों के संबंध में स्वयं एक जगह पर 'गीत' शब्द का प्रयोग किया है–तुम जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।[8] कबीर कहते हैं, तुम यह न समझो कि मैं केवल गीत की रचना कर रहा हूँ; इसमें पूरे ब्रह्म संबंधी निजी विचार भी निहित हैं। यहाँ उन्हें इस बात का स्पष्ट बोध है कि मैं गीतकार हूँ। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि कबीर ने भले संगीत की औपचारिक शिक्षा न ली हो परंतु उनके समय में संगीत भलीभाँति फल फूल रहा था और उनकी रचनाओं का आज गायन के लगभग हर शैलियों में गाया जाना इस बात का प्रमाण है

कि कबीर के पद गायन हेतु सर्वथा उपयुक्त हैं।

कबीर आज संगीत की दुनिया में कुछ लोगों के लिए साधन बन गए हैं। निर्गुण की उपासना करने वाले कबीर, आज मंदिरों में विराजते हैं और संगीत की महफिलों में भजनों में। हिंदी साहित्य के मध्यकाल के प्रामाणिक पाठों पर ध्यान दें तो सूर, मीरा, तुलसीदास और कबीर आदि को आज भी जब साहित्य का आधुनिक काल चल रहा है, तब खूब गाया जाता है। अगर आज भी उस काल की रचनाएँ हमारी जबान पर हैं तो उसकी सांगीतिक संबद्धता ही उसका कारण है। उन कवियों की समाज में व्यापक उपस्थिति का कारण उनकी रचनाओं की लयात्मकता, छंदबद्धता और संगीतात्मकता है।

संगीत के क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी में विष्णु दिगंबर पलुस्कर का आविर्भाव होता है। उसके पहले साहित्य के रीतिकाल के समानान्तर संगीत की बंदिशों में लौकिक जगत के राग-अनुराग, त्योहारों, मान-मनुहारों वाले शब्द होते थे। साहित्य के रीतिकाल की तरह संगीत के बोल भी भौतिक जगत के थे। पलुस्कर ने रागों की बंदिशों में रीति सुलभ शब्दों को भक्तिपरक शब्दों से बदल दिया और भजनों की परंपरा चल पड़ी। डी बी पलुस्कर के प्रचलित भजन उसी परिवर्तन का परिणाम है। ठुमरी गाने तक की मनाही होने लगी। यह वह दौर था जब हिंदी साहित्य अपने आधुनिक काल में प्रवेश कर रहा था और हमारा भारतीय संगीत भक्तिकाल की ओर लौटने को पीछे मुड़ चुका था। हम जिस आधुनिकता से मनुष्य को चिंतन के केंद्र में स्थापित कर रहे थे, वही संगीत में भक्ति और अलौकिक सत्ता को पाने और सांसारिकता से पार पाने वाले भजनों का समावेश हो रहा था। संगीत पुरातन हो रहा था, साहित्य आधुनिक। हम जिस कबीर की बात करते हैं, उनकी रचनाओं को देखने पर हम पाते हैं कि साखी, सबद, रमैनी, पद और दोहा में से सबसे अधिक पद और साखियों का गायन हुआ है। साहित्य में कबीर का महत्व भौतिक जगत वाले जाति-पांति से है, जहां 'जाति ण पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान' वाली बात है और कबीर 'साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप' का उपदेश देते हैं तो ब्राह्मणों को ज्ञान का मार्ग बताते हैं कि 'जाति का मोर पूछ्त हो बाम्हन बूझो मोर गियाना'। वहीं दूसरी ओर संगीत जगत की लंबी परंपरा ने कबीर को सामाजिक सरोकार से जोड़ कर नहीं गाया। उनके मूल में भक्ति ही रहा, जो हमारे साहित्य की तत्काल चिंता से कटा हुआ है। संगीत की दुनिया ने कबीर को लौकिक से उठाकर अलौकिक में जपना शुरू कर दिया। साहित्य से दूर होकर भक्ति संगीत में बखूबी स्थापित हो गयी। तभी शिवकुमार मिश्र कहते हैं, 'गगन मण्डल में गाय बिया रही है, सब मुग्ध भाव से कुमार गंधर्व के स्वर का सुख भोग रहे हैं–पद के आशय को बिना समझे हुये।' कबीर को गाने वालों ने उनके पदों की संगीतात्मकता और भक्ति पक्ष को लेकर गाया।

इस तरह कबीर अपने दो अलग रूपों में साहित्य और संगीत में समानान्तर छाए रहे। जिन रचनाओं को गायन में स्थान मिला, उनमें कबीर की आध्यात्मिक, योग और ज्ञान संबंधी रचनाएँ ही सर्वाधिक हैं। कबीर के जिस प्राकृतिक चरित्र को हजारी प्रसाद द्विवेदी उजागर करते हैं, 'संगीत ने उसी रूप को कबीर चिंतन के मूल में रखा। साहित्य में कबीर जहां आपण घर फूँक कर समाज बदलने की बात करते हैं, वहीं संगीत में कबीर अनहद नाद जैसे अलौकिक ज्ञान की बाते करते हैं। साहित्य में जहां कदम-कदम पर कबीर का पुनर्मूल्यांकन आज भी हो रहा है, वहीं संगीत की महफिलों में कबीर भक्त ही बने हुये हैं। हमारा समय अपने हर आयामों में लगभग समान दिशा की ओर परिवर्तन का गवाह बनता है परंतु कबीर के साथ ऐसा नहीं हुआ। एक ओर जहां वे प्रगतिशील हैं, वहीं दूसरी ओर पुरातन। गायन की शैलियाँ लगातार बदली लेकिन कबीर का रूप लोक में नहीं बदला। साहित्य और संगीत के इन दो धाराओं के विपरीत बहने का परिणाम ही है कि आज गोष्ठियों में कबीर की प्रासंगिकता समझानी पड़ रही है क्योंकि लोक तक जिस कबीर को पहुँचना था वे अमूर्त होकर जीवन जगत को निस्सार बताने वाले तक सिमट कर रह गए।

सन्दर्भ

1. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2010, पृ. 154
2. परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख , भारती भंडार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 1985, पृ. 276
3. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2010, पृ. 9
4. https%\\www-youtube-com\watch\vṛfbufGnqH7T0, ajabshahar– kabir project, Shabnam Virmani
5. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2010, पृ. 159
6. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2010, पृ. 154
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली , उन्नीसवीं आवृत्ति 2014, पृ. 257
8. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2010, पृ. 89

रोहित कुमार

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

मो.- 9540331898

Email: rohithinduite@gmail.com

ब्रजकालीन समाज में राजनैतिक परिस्थितियाँ

—डॉ. राम रतन प्रसाद

ब्रज के सामाजिक जीवन का ढांचा उत्तर वैदिक कालीन सप्रभा-समितियों पर आधारित नहीं रहा। समाज में आमूल चूल परिवर्तन हो गया था। अब सभा-समितियों की जगह राजकीय प्रभुत्व छोटे-छोटे कुनबों में जी जा तो रहा, परन्तु उनका रंग-ढंग पूर्णतया बदल गया। उनमें राजाओं और अमीरों का बोलबाला हो गया। अब सभा में स्त्रियों का प्रवेश पूर्णतया निषिद्ध हो गया और संबंधों तथा ब्राह्मणों का प्राबल्य हो गया। राज्यों की अधिकार बुद्धि से मुखिया या राजा अधिकाधिक शक्तिशाली होता गया। सत्ता धीरे-धीरे प्रजाश्रित से प्रदेशक्ति होती गई। पूर्व में मुखिया कबीलों पर शासन करते थे पर उनके प्रमुख कबीले उनके राज्य के प्रदेश से अधिक समझे जाने लगे। आरम्भ में हर प्रदेश वहाँ आकर सबसे पहले बसने वाले कबीले के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उदाहरणार्थ पहले पंचाल एक जन या कबीला था जो बाद में एक प्रदेश या राज्य हो गया।

उत्तर वैदिक ग्रंथों के अध्ययन में इस प्रकार का संकेत मिला है कि मुखिया या राजा का निर्वाचन होता था जो शारीरिक और अन्य गुणों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। वह अपने सामान्य कुल जनों या प्रजाजनों से स्वेच्छा से दी गई भेट प्राप्त करता था, परन्तु राजा ने भेंट प्राप्त करने के इस अधिकार को और अपने पद की अन्य सुविधाओं को हमेशा कायम रखने के उद्देश्य से राजा के पद को अनुवांशिक बना लिया। इस प्रकार राजा का पद उनके ज्येष्ठ पुत्र को मिलने लगा। लेकिन उत्तराधिकारी का यह कार्यक्रम हमेशा निर्विघ्न रूप से नहीं चला। महाभारत में कहा गया है कि युधिष्ठिर के छोटे भाई दुर्योधन ने उनके राज्य का अपहरण कर लिया। राज्य के लिए पांडवों और कौरवों के कुल का ही विनाश हो गया। इस युद्ध से स्पष्ट होता है कि सत्ता के आगे स्वजन कुछ नहीं है। कर्मकाण्डों के विधान राजा और भी शक्तिशाली बना दिया। राजा राजसूय यज्ञ करता था, जिससे यह समझा जाता था कि उसे दिव्य शक्ति मिल गई है। वह अश्वमेघ यज्ञ करता था जिससे समझा जाता था कि राजा का इस यज्ञ में छोड़ा गया घोड़ा जिन-जिन क्षेत्रों से बेरोक गुजरता उन सारे क्षेत्रों पर उस राजा का एकछत्र राज्य हो गया। वह यज्ञ भी करता था, जिनमें राजा का रथ अन्य सभी बंधुओं के रथों से आगे निकलता था। इन सारे अनुष्ठानों से प्रजा के चित पर राजा की बढ़ती हुई शक्ति और महिमा की गहरी छाप पड़ती थी।

इस काल में ऐसा प्रतीत होता है कि कर और नजराने का संग्रह प्रचलित हो गया था। इसके संग्रह और संचय के

लिए अधिकारी नियुक्त किए जाते थे। रामायण और महाभारत के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर राजा भारी मात्रा में उपहार बाँटता था। हर वर्ग के लोगों को उत्कृष्ट भोजन कराता था। इतिहासकार रामशरण शर्मा जी के कथनानुसार–"राजा अपने कर्तव्य के सम्पादन में पुरोहित, सेनापति, महरानी और कई अन्य उच्चकोटि के अधिकारियों की सहायता लेता था, निम्न स्तर में प्रशासन का आना ग्राम सभाओं पर था, जिनपर प्रमुख कुलों प्रधानों का नियंत्रण रहता था। ये सभाएँ स्थानीय वाद-विवादों का फैसला भी करती थी।"[1]

जहाँ तक ब्रजकालीन समाज में राजनीति जीवन-चित्रण का सवाल है–ब्रजकालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि एक समृद्ध राज्य के रूप में विकसित हो चुकी थी। इसमें मगध, कोसल, वत्स, अवन्ति, मथुरा आदि अत्यन्त शक्तिशाली राज्य के रूप में विकसित हो चुका था। इसके आधार पर अंग और हस्तिनापुर का राजसी व्यवस्था शक्तिशाली राज्यों की दृष्टि से अपने चरम पर था। मगध और कोशल जैसे शक्तिशाली राज्यों में क्षत्रिय वर्ण के आनुवांशिक राजाओं द्वारा शासित सर्वांगपूर्ण राज्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अत्याचार राजाओं और उनके प्रधान पुरोहितों को गद्दी से उतार देती थी। उनकी जगह नए राजाओं को बैठा देती थी। उन दिनों राजा के पद की प्रतिष्ठा सबसे ऊपर थी। उनके जान-माल की रक्षा का विशिष्ट प्रबंध रहता था। कृष्ण द्वारा जरासंध शिशुपाल कंस आदि का वध कर नये राजाओं को राजसिंहासन पर बैठा देना इस तथ्य का प्रमाण है।

सूरदास ने सूरसागर में बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"कंस नृपति अक्रूर बुलाए।
बैंड़ि इकंत मंत्र दृढ़ कीन्हौं, दोऊ लंघु मंगाये।
कहूँ मल्ल, कहूँ गज दै राखै, कहू धनुष कहूँ वीर।
नंद महर के बालक मेरो, करषत रहत सरीर॥
उनहि बुलाइ बीच ही मारो नगर न आवन पावैं।
सूर सुनत अक्रूर कहत, नृप मन-मन मौज बढ़ावै।[2]
बाही के दोउ है गए, हम देखत ठाढ़े।
सूरज प्रभु वै निठुर हैं, अतिहिं गए गाढ़े।"[3]

राज्य की शक्ति में वास्तविक वृद्धि का संकेत इस बात से मिलता है कि कंस की सेना अत्यन्त शक्तिशाली थी, उनकी सेनाओं में एक से बढ़कर एक दुर्दान्त एवं राक्षस प्रवृत्ति वाले एवं मायावी सेनाओं का सुमार था। कंस और उनकी सेनाओं का प्रजा पर अत्यन्त भय का माहौल था, उनके विरोध का सामना करने की हिम्मत प्रजा में नहीं के बराबर थी। एक पद का अवलोकन करना समुचित जान पड़ता है–

"जसुमति अति ही भई विहाल।
सुफलक सुत यह तुमहि बुझियत, हरत हमारे बाल॥
ये दोउ भैया जीवन हमरे, कहति रोनी रोइ।
धननि गिरति उठति अति व्याकुल, कहि राखत नहिं कोई
निठुर भए जब तैं यह आयौ, घरहु आवत नाहिं।
सूर कहा नृप पास तुम्हारौ, हम तुम बिन मारि जाहि॥"[4]

सूरदास के उक्त पद में वात्सल्य विप्रलम्भ का चर्मोत्कर्ष दिखाई पड़ता है–दोनों माताओं की व्यथा का वर्णन करते हुए सूरदास जी कहते हैं–पुत्रों के वियोग की आशंका से अति व्याकुल हो गई है–हे अक्रूर जी इन अबोध बालकों का हरण करना तुम्हें शोभा देता है। माता रोहिणी कहती हैं–ये दोनों पुत्र ही हमारे जीवन हैं फिर वे मूर्च्छित होकर जमीन में गिर जाती हैं। तत्पश्चात् अत्यन्त व्याकुल होकर उठती है और कहती है क्या ब्रज में कोई ऐसा नहीं जो इन बच्चों को मथुरा जाने से रोक ले।

कंस के भय से सारा ब्रजवासी त्रस्त है माता यशोदा कृष्ण को मुझ निर्धन का धन बताती हैं। एक पद में अपने पुत्र को निरंतर देखने पर भी कभी तृप्त नहीं होतीं। यदि हम माधव को मथुरा न भेजें तो अक्रूर हमारा क्या कर लेगा? हम तो बिना किसी बाधा के अपने प्राणों को न्यौछावर कर देंगी। सूरदास जी कहते हैं कि मैं घनश्याम को मथुरा नहीं भेजूंगी, भले ही कंस मुझे इस अपराध के लिए अभी ही क्यों न बंधवा ले। एक पद का अवलोकन कीजिए–

"मेरो माई निधनी को धन माधो।
वारंबार निरखि सुख मानति, तजतिं नाहिं पल आधौ।
छिनु-छिनु परसति अंलम लावति, प्रेम प्रकृत है बांधी।
निसिदिन, चन्द चकोरी अंखियनि, मिटै न दरसन साधौ।
करिहौ कहा अक्रूर हमारौं, दैहैं प्रान अबाधौ।
'सूर' स्याम घन हो नाहिं पठवौं अबहिं कंस किन्ह बांधौ।"[5]

कृष्ण के मथुरा गमन से जहाँ तक एक तरफ ब्रज में अत्यन्त दुख का माहौल है तो दूसरी ओर कंस के आतंक से मुक्ति पाने हेतु सम्पूर्ण मथुरा में हर्ष का माहौल है। सूर ने इस क्षण का बड़ा ही सारगर्भित वर्णन करते हुए कहा श्रीकृष्ण और बलराम आगमन पर आज मथुरा नगरी इस प्रकार प्रसन्न हो रही है जैसे कोई स्त्री अपने पति के आने का समाचार सुनकर पुलकित हो जाती है और भावावेश में अपना आंचल भी नहीं संभाल पाती है। महलों पर लगे मंगल कलश ही मथुरा नगरी के उरोज हैं। ऊँचे-ऊँचे

अहारियों पर निचले छज्जों की शोभा इस प्रकार है मानो मथुरा रूपी नारी सिर उठा-उठाकर पथ निहार रही हो। सूरदास जी कहते हैं–लगता है जैसे मथुरा नगरी चंचला पति प्रतीक्षारत स्त्री है। इस संबंध में निम्न उद्धरण देखा जा सकता है–

"मथुरा हरषित आजु भई।
ज्यों जुबती पति आवत सुनि कै पुलकित अंग भई॥
नवसत साजि सिंगार सुन्दरी, आतुर पंथ निहारति।
उड़ति धुजा तनु सुरति बिसारे, अंचल नहीं संभारति॥
उरज प्रगट महलनि पर कलसा, लसति पास बन सारी।
सूर स्याम बनिता ज्यौं चंचल, पड़ा नूपुर मनकार॥"[6]

कृष्ण द्वारा कंस का दमन वस्तुतः जनता पर अत्याचार करने वाले राजा का दमन कर नए राज-व्यवस्था का अभ्युदय हुआ है। ऐसे ही परिदृश्य का सूर ने एक पद में वर्णन किया है–

"मथुरा पुर मैं सोर पर्‌यो।
गरजत कंस बंस सब साजे, मुख को नीर हरयो।
पीरो भयो, फेफरी अधरनि, हिरदय अतिहि उरयो।
सूर स्याम देखत पुर नारी, पुर-उर प्रेम भरयो॥"[7]

कृष्ण-कंश युद्ध का वर्णन करने में सूरदास ने कृष्ण और बलराम के रौद्र रूप का अद्‌भत वर्णन देखते बनता है। साथ ही सहज वृत्ति और सौन्दर्य वर्णन ऐसे प्रतीत होते हैं। अत्यन्त भयभीत नन्द बाबा भी हर्ष महसूस करते हैं। युद्धभूमि का वर्णन देखिए–

"नवल नन्दनंदन रंगभूमि साजें।
स्याम तन, पीत पह मनोधन में तड़ित,
मोर के पंख माथै बिराजे।
स्रवन कुण्डल झलक मनो चपलता चमल,
दृग अरून कमल दल से विसाला
भौंहे सुंदर धनुष, बान सम सिर तिलक,
केष कुंचित सोह भृंग भाला
हृदय वनमाल नुपुर लाल, चरन लाज,
चलत गज चाल, अति बुधि बिराजै
कवलया मारि चानूर मुष्टिक पटकि,
वीर दो कंस गरज दंत धारे।
जाइ पहुँचे तहं कंश बैठ्‌यो जहां,
गए अवसान प्रभु के निहारे।।
दाल नखारि आगैं धरी रहि गई
महल की पंथ खोजत न पावत।
लात कैं लगत सिर तैं गयो
मुकुटगिरि केस गहि लै चले हरि
चारि भुज धारि तेहि चारू दरसन दियौ,
चारि आयुध चहुँ हाथ लीन्हे
असुर तजि प्रान निरवान पद को,
विमल मति भई प्रभु रूप चीन्हे।।
देखि यह पुहुप वर्षा करी सुरनि मिलि,
सिद्ध गंधर्व जय धुनि सुनाई।
सुर प्रभु अगम महिमा न कछु हि परति,
सुरनि को गति तुरत असुर भाई।"[8]

सूरदास जी कहते हैं, युद्ध भूमि में दोनों कोमल बालक अत्यन्त शोभायान प्रतीत हो रहे हैं कुवलयापीड हाथी मुष्टिक चाणूर आदि को मारकर दोनों की हाथी के दातों को धारण किए हुए अत्यन्त शोभायमान हो रहे हैं। श्रीकृष्ण की एक लात लगते ही कंस के सिर से मुकुट मस्तक से गिर गया। कृष्ण ने कंस को केशों से पकड़कर नीचे गिरा दिए फिर चार भुजा धारण कर कंश को उपकृत भी कर दिया। प्रभु का दर्शन कर उसकी दुष्ट बुद्धि भी लुप्त हो गई। भगवान का हाथ सुन्दर कार्य देखकर सभी देवताओं ने पुष्प की वर्षा की, सिद्ध और गंधर्व ने जय-जयकार की धुन सुनाई।

कृष्ण ने कंश को मारकर उग्रसेन को राज्य दे दिया यथा–**'उग्रसेन को दियौ हरि राज।'** ब्रज और सूर साहित्य में राजा प्रजा संबंध और राज्य व्यवस्था का इसी प्रकार का परिवर्तन दिखाई पड़ता है और एक नए राज-व्यवस्था का निर्माण ही प्रकृति का शाश्वत नियम है।

संदर्भ

1. प्राचीन भारत का इतिहास, रामशनण शर्मा-पृ. 88
2. सूरसागर, पद 491-3558, पृ. 284
3. वही, पद 492-3553, पृ. 284
4. वही, पद 499-3546, पृ. 287
5. वही, पद 497-3589, पृ. 286
6. वही, पद 510-3641, पृ. 291
7. वही, पद 511-3643, पृ. 292
8. वही, पद 520-3695, पृ. 296

डॉ. राम रतन प्रसाद
सहायक प्रोफेसर
आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय
नई दिल्ली

दुख का अधिकार कहानी का पुनर्पाठ

—डॉ. सीमा रानी

यशपाल के लेखन की प्रमुख विधा उपन्यास है, लेकिन अपने लेखन की शुरूआत उन्होंने कहानियों से ही की। यशपाल की कहानियाँ कथानक प्रधान हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि कलात्मक अथवा रोचक ढंग से विचारों की अभिव्यक्ति करने की सफलता ही कला की सफलता है। हमारी कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकताएँ होती हैं। प्रगतिवादी साहित्यकार किसान मजदूरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए उनकी दयनीय दशा का चित्रण और दोनों वर्गो के जीवन की विषमता का उद्‌घाटन भी करता है। यशपाल ने प्रगति चेतना को प्रगतिवाद के रूप में ग्रहण कर स्थिरता प्रदान की। धारा के विरुद्ध अपनी किश्ती को खींचकर ले जाने वाला खिवैया एकाध ही होता है। आज की कहानी की सोच की जो दिशा है, उसमें यशपाल की कितनी ही कहानियाँ बतौर खाद इस्तेमाल हुई हैं। वर्तमान और आगत कथा-परिदृश्य की संभावनाओं की दृष्टि से उनकी सार्थकता असंदिग्ध है। डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार जिसे नई कहानी कहते हैं, उसका प्रारंभ प्रेमचंद ने और उसका विकास यशपाल ने किया। भीष्म साहनी ओर अमरकांत जैसे स्वतंत्र्योत्तर कहानीकार यशपाल से दूर तक प्रभावित लगते हैं। प्रेमचंद और यशपाल की कहानियाँ तत्कालीन समाज और मानसिकता की दस्तावेजी कहानियाँ हैं। दोनों ही साहित्य के माध्यम से समाज की मानसिकता बदलना चाहते हैं। दृष्टि एक के पास गांधीवादी है, दूसरे के पास मार्क्सवादी दोनों का सारोकार है सामंती समाज और उपनिवेशी सत्ता। उन्होंने सामाजिक बदलाव की मानसिकता गढ़ने के लिए कथा माध्यम चुना है। यशपाल सदा से रूढ़िगत समाज की आलोचना करते रहे। यशपाल का साहित्य हिन्दी में नए उद्‌बोधन तथा नई विशषताओ के साथ आया। इनकी विचारधारा समाजवादी थी। इनके साहित्य में वर्ग-संघर्ष तथा व्यंग्य साफ तौर पर झलकता है। इनका साहित्य जीवन की वास्तविकता के निकट है तथा समाज की विविध परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करता है।

यशपाल की किसान-जीवन की दुर्दशा का चित्रण करने वाली एकमात्र कहानी दुख का अधिकार है। यह कहानी ज्ञानदान कहानी संग्रह में संकलित है। इस संग्रह की कहानियों में सामाजिक रुढ़ियों तथा कुरीतियों के प्रति विद्रोह भाव उभरे हैं। समाज के सर्वहारा वर्ग की पीड़ा, विवशता तथा कुंठा को चित्रित करने का प्रयास इसमें किया गया है। दुख का अधिकार कहानी आर्थिक विषमता और वर्ग विषमता की समस्या को उजागर करती है। लेखक की

कल्पना यथार्थ जीवन की एक कटु वास्तविकता का बड़ा सजीव चित्रण करती है। इस कहानी में समाज दो टुकड़ों में बंटा हुआ है। एक टुकड़ा ऐसे लोगों का है जो सुविधाभोगी और सम्पन्न है। एक टुकड़ा ऐसे लोगों का है जो सुविधाहीन, सर्वहारा या शोषित कहा जा सकता है। यह मनुष्य अपने जीवन में वास्तविक दुख का अनुभव करता है, उससे संघर्ष करता, पराजित होता है। जैसाकि आज के समाज में भी हम देखते हैं। समाज की स्थिति आज भी उतनी ही दयनीय है जितनी लेखक के समय में थी।

दुख का अधिकार निम्नवर्ग की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण है। यह कहानी आर्थिक विषमता को उभारती है। इस कहानी के माध्यम से यशपाल ने समाज में व्याप्त संवेदनशून्यता को वाणी दी है। दुख का अधिकार उसे ही है जिसके पास इसके लिए समय और सुविधाएँ हैं, क्योंकि एक माँ, जिसके सामने पोते-पोतियों और बहू का पेट पालने की समस्या है, वह अपना पुत्र-मृत्यु का दुख भूलकर रोजी-रोटी के जुगाड़ में निकल पड़ती है। संवेदनशून्य समाज उसकी मजबूरी को न देखकर समाज में व्याप्त रूढ़ियों की दुहाई देता है। दूसरी ओर जहाँ अभाव नहीं है सभी सुख सुविधाएँ मौजूद हैं, ऐसे लोगों के दुख में सभी सम्मिलित हो जाते हैं, ऐसे लोगों को मानो दुखी होने का अधिकार होता है।

यशपाल ने दुख का अधिकार कहानी का आरंभ ही पोशाक से किया है। उन्होंने माना है कि पोषाक ही मनुष्य को विभिन्न श्रेणियों में बाँटने वाली सीमा रेखा है। पोशाक ही मनुष्य का अधिकार और उसका दर्जा निश्चित करती है कथन से किया है। इसमें पोशाक का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया गया है कि हमारा बाहरी आवरण ही समाज में हमारे स्तर को निर्धारित करता है। यह पोशाक ही हमें उच्च या निम्न वर्ग का बनाती है। साथ ही यह भी तय करती है कि किसके पास अधिक अधिकार होगें और किसे बिल्कुल भी अधिकार प्राप्त नहीं होगें। अनेक बार हमारी पोशाक ही हमारे पैरों का बंधन बन जाती है और एक वर्ग, दूसरे से मिल नहीं पाता। मानव जीवन के स्वतंत्र विकास में बाधा डालने वाले समस्त तत्वों को जड़ से उखाड़ फेंकने का स्वर इस रचना में मुखरित हुआ है। साधन सम्पन्न वर्ग की साधनहीनों के प्रति उपेक्षा, दमन और उत्पीड़न का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि जब हम नीचे झुककर समाज की निचली श्रेणियों की अनुभूति को समझना चाहते हैं, उस समय यह पोशाक ही बंधन और पैर की बेड़ी बन जाती है। जैसे वायु की लहरें कटी पतंग को सहसा भूमि पर नहीं गिर जाने देती, उसी तरह खास परिस्थितियों में हमारी पोशाक हमें झुकने से रोके रहती है। यशपाल ने आधुनिक सभ्यता के अभिषाप और वरदान से पीड़ित, हर पग पर अविश्वासी और वंचक कृत्रिम नागरिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है। समाज में सबसे अधिक आर्थिक विवंचना से ग्रसित निम्न वर्ग है सबसे अधिक आंदोलित और प्रभावित निम्न वर्ग है। यह वर्ग एक तरफ तो व्यवस्था से जूझने वाला विद्रोही है, तो दूसरी तरफ व्यवस्था के द्वारा सताया हुआ निराश और हताश दिखाई देता है।

अर्थ सारे पापों की जड़ है। इसके लिए ही जीवन में संघर्ष होता है। इसी से जीवन दृष्टि में परिवर्तन आता है। अर्थ को केन्द्र में रखकर लिखी गयी इस कहानी में एक माँ की मनःस्थिति का चित्रण है। एक खरबूजा बेचने वाली महिला अपने बेटे की मृत्यु पर धनी औरतों की भाँति अधिक दिनों तक घर में शोक मना सकने में असमर्थ है। बूढ़ी महिला के बेटे भगवान की सर्पदंश के कारण मृत्यु हो जाती है। उसकी बहू ज्वरग्रस्त है घर में जो थोड़ा सा पैसा था वह भगवान के लिए कफन खरीदने में खर्च हो जाता है क्योंकि जिंदा आदमी नंगा भी रह सकता है, परंतु मुर्दे को नंगा कैसे विदा किया जाये।

लेखक व्यंग्य करते हुए कहता है कि गरीब आदमी को क्या हमारे समाज में इज्जत से मरने का अधिकार भी नहीं मिल सकता। जिंदा आदमी तो किसी भी परिस्थिति में किसी न किसी प्रकार से रह लेता है। भले ही उसे कितना भी संघर्ष करना पड़ा हो, परंतु मृत्यु के समय उसे निर्वस्त्र नहीं भेजा जा सकता, उसके लिए नए कफन की आवश्यकता होगी ही। चाहे उस गरीब के घर परिवार के व्यक्तियों को कितना भी दुख सहना पड़े। लेखक यहाँ इस कथा के माध्यम से पूरे समाज पर व्यंग्य करता है। यह व्यंग्य ऐसा दर्पण बनकर हमारे सामने आया है, जिनमें मनुष्य तथा समाज के शत्रु अपनी शक्लें देख सकते हैं। यशपाल ने तत्कालीन सामाजिक विषमताओं को मिटाकर सामाजिक नवनिर्माण का प्रयास किया है।

भगवान की बूढ़ी माँ घर के भूखें बच्चों का पेट भरने के लिए बहू के इलाज के लिए बेटे की मृत्यु के दूसरे दिन ही नगर के बाबू लोगों के बीच बाजार में खरबूजे बेचने के लिए विवश है। उसे इस प्रकार खरबूजा बेचते देखकर लोग उसके प्रति घृणा और अपेक्षा प्रकट करते हैं। घृणा से एक तरफ़ थूकते हुए एक आदमी ने कहा, ''क्या जमाना है? जवान लड़के को मरे एक दिन नहीं बीता और यह बेहया दुकान लगा के बैठी है।'' दूसरे साहब अपनी दाढ़ी खुजाते

हुए कह रहे थे, ''अरे जैसी नीयत होती है। अल्ला भी वैसी ही बरक्कत देता है।'' सड़क पर आते-जाते लोग जो विवेकहीनता के कारण सोचने समझने की सही दृष्टि को ही नहीं खो बैठे बल्कि संवेदनहीन भी हो गये हैं लेखक ने उनके अमानवीय रुख पर कड़ा प्रहार किया है। लेखक ने शोषित वर्ग की विवशता को पूरी मार्मिकता के साथ उभारा है। बुढ़िया सौदा न बेचे तो पोते घर में भूख से तड़पते रह जाएँगे। अतः वह मजबूर है।

परचून की दुकान पर बैठे लालाजी ने कहा, अरे भाई, इनके लिए मरे जिये का कोई मतलब न हो पर दूसरे के ईमान का तो ख्याल करना चाहिए। जवान बेटे को मरे पर तेरह दिन का सूतक होता है और ये यहाँ सड़क पर खरबूजे बेचने बैठी है। कोई क्या जानता है, कोई इसके खरबूजे खा ले तो उसका ईमान-धर्म कैसे रहेगा? क्या अंधेर है। लेखक ने ऐसे प्रदर्शनों और उनके अमानवीय रुख, रूढ़ियों पर तीखा प्रहार किया है। समाज अनेक विसंगतियों से त्रस्त है। इसके विपरीत ढ़ाई महीने पलंग से न उठ सकी सम्पन्न महिला के पुत्र वियोग के दुख के साथ लेखक ने बुढ़िया के दुख को प्रति संदर्भ के रूप में रखकर अधिक प्रभावशाली बना दिया है। साथ ही, अभिजात वर्ग के प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। आर्थिक विपन्नता और वर्ग विषमता के मध्य पिसते हुए मानव की मजबूरियों एवं कुंठाओं को बड़ी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

यशपाल ने सामाजिक क्षेत्र में भी शोषण विशेष के बहुआयामी चित्र प्रस्तुत किये हैं। धर्म पूंजीवादी व्यवस्था में शोषण का एक हथियार है जिसका उपयोग कुछ लोग अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए करते हैं। यशपाल यह महसूस करते हैं कि नारी जो मूलतः भारत को जनसंख्या का आधा भाग है, रूढ़ियो-अंधविश्वासों से सर्वाधिक ग्रसित है। रूढ़िवादी परंपराओं, समाज की विसंगतियों और रूढ़ नैतिक मान्यताओं पर तीखे प्रहार करते हुए धर्म के नाम पर होने वाले सामाजिक शोषण को भी कहानी में उकेरा है। माँ बाबली होकर ओझा को बुला लाई। झाड़ना-फूँकना हुआ नागदेव की पूजा हुई। पूजा में दान-दक्षिणा चाहिए। घर में जो कुछ आटा और अनाज था, दान-दक्षिणा में उठ गया। माँ, बहू और बच्चे भगवान से लिपट-लिपट कर रोये पर भगवान जो एक दफे चुप हुआ तो फिर न बोला।

अर्थ के कारण मजबूर कई बार प्रताड़ित होता निम्न वर्ग अलग-अलग परिस्थितियों और मनःस्थितियों में हमारे सामने आता है। कहानी में एक स्थल पर लेखक कहता है, 'भगवान चला गया और घर में जो कुछ चुनी भूसी थी सो उसे विदा करने में चली गयी। बाप नहीं रहा तो क्या? लड़के सुबह उठते ही भूख से बिल बिलाने लगे। दादी ने उन्हें खाने को खरबूजे दिये लेकिन बहू को क्या दे? बहू का बदन बुखार से तवे की तरह तप रहा था। आज बेटे के बिना उसे दुअन्नी-चवन्नी भी कौन उधार देता। रोते-रोते और आँखे पोंछते-पोंछते बुढ़िया भगवान के बटोरे हुए खरबूजे डलिया में समेट कर बाजार की ओर चली और चारा ही क्या था ? मानवीय चेतना लेखक को मनुष्य के साथ गहराई से जोड़ती है। मनुष्य तथा उसके साथ जुड़े दुख-सुख लेखक को अन्दर तक प्रभावित करते हैं। उन्होंने बड़ी संवेदना के साथ उनके अभावों को छुआ है। भावनाओं के आंदोलित होते हुए भी उसे दबाए रखना पड़ता है। वह आई थी खरबूजे बेचने का साहस करके, परंतु चादर सिर से लपेट, सिर को घुटनों पर टिकाये हुए फफक-फफक कर रो रही थी। कल जिसका बेटा चल बसा, आज वह बाजार में सौदा बेचने चली है, हाय रे पत्थर का दिल।

यशपाल पहले कहानीकार हैं जिन्होने इतनी मजबूती के साथ प्राचीन सांस्कृतिक रूढ़ियों पर वज्रपात किया जो मनुष्य कि कुंठा और नैतिक पतन के जबरदस्त कारण थे। उन्होंने खोए हुए, टूटे हुए मानव मन को गहराई के साथ परखा है। लेखक कहता है कि उसके दुख का अंदाजा लगाने के लिए पिछले साल अपने पड़ोस में पुत्र की मृत्यु से दुखी माता की बात सोचने लगा, जो पुत्र की मृत्यु के बाद अढ़ाई मास तक पलंग से उठ न सकी थी। दो डाक्टर हरदम सिरहाने बैठे रहते थे। शहर भर के लोगों के मन उस पुत्र शोक से द्रवित हो उठे थे। अमीर गरीब के अन्तर को स्पष्ट कर लेखक ने शोषित वर्ग की विवशता को पूरी मार्मिकता के साथ उभारा है।

लेखक ने समाज व्यवस्था, कुरीतियों, जर्जर रूढ़ियों और अंधविश्वासों के प्रति अपने आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। लेखक ने दोनों स्त्रियों को प्रस्तुत करने के बाद कहा है, शोक करने, गम मनाने के लिए भी सहूलियत चाहिए और...दुखी होने का भी एक अधिकार होता है...। इस अधेड़ स्त्री को मजबूर होकर खरबूजे बेचने पड़ते हैं परंतु हमारे समाज के ठेकेदारों को यह सहन नहीं होता और वह उस स्त्री का अपमान करते हैं। लेखक यह सब देखकर बहुत दुखी होता है और उसे लगता है कि आज के समय में दुख करने का अधिकार भी उसी को है जो पहले से ही शक्ति सम्पन्न है। गरीब व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि किसी अमीर आदमी की मृत्यु होने पर न केवल उसके परिवार वाले बल्कि पूरा समाज उनका

कविताएं

नव वर्ष

उसका मन करता है
बार-बार
उसको फोन करूं
फिर रूक जाती है वह
कशमकश में करवटें
बदलती रही
फोन उठाती है
नंबर मिलाती है
काट देती है
परन्तु-
वह अकेली नहीं है
दो बच्चों की मां है
हर खुशी हर क्षण
बांटना चाहती है
बच्चों के साथ
हर मन की बात
बताना चाहती है
उनके साथ
मगर, उसको रोकता है
मन फिर भी
उठा लेती है फोन
मन डरता है
हिम्मत जुटाती है
आखिर सफल होती है वह
उसकी एक हैलो
सुनने को कान
तरस रहे थे उसके
सुकून महसूस करती है।
हिम्मत जुटा कर
कह देती है
दिल की बात जुबान पर आ जाती है
'बेटा! नये साल पर
मैं अकेली थी
तमाम लोगों के
फोन और संदेश आए
काश! तुम लोग भी..
पास होते तो..
मुझे यह नहीं लगता
मैं अकेली हूं। जैसे..'
कहते-कहते
उसकी जीभ लड़खड़ा गई थी
उधर से आवाज में तलखी
सुनाई देने लगी
इसीलिए वह बात नहीं करता आपसे
क्या मैं अपने दोंस्तों से न मिलूं?
आपके पल्लू से बंधी रहूं?
आप को बात करनी नहीं आती
रहती तो हूं मैं
हमेशा आपके पास
दो-चार दिन
नहीं रहने देती दोस्तों के पास सुकून से
वह सुनती रही
चुपचाप।
बड़बड़ाहट उसके कानों में
बढ़ती रही
फिर हिम्मत जुटा कर
उसने कहा दबे स्वर में-
'मैं अपनी बात वापस लेती हूं'
अब क्या वापस लोगी आप?
मेरा दिन खराब कर दिया
क्या करूं अब मैं?
मां कांपती आवाज में
मुजरिम सी पूछती है

फिर वही अलाप
मुझे चैन से नहीं रहने
देती आखिर क्यों?
फोन पर उसकी आवाज में
गीलापन बढ़ गया था
आगे से कुछ नहीं कहूंगी
मानों उसने
नौकरी के फॉर्म में
अपने घोषणा पत्र पर
हस्ताक्षर किए हों।
ऐसा महसूस किया था उसने
नव वर्ष में
फोन काटने की हिम्मत नहीं हुई
आंखों के कोर
गीले हो गये थे
आंसुओं को बाहर
आने से उसने बरबस
रोक दिया था
नव वर्ष जो मना रही थी
जिसमें नव जैसा
कुछ था ही नहीं
बीते वर्ष में भी तो
यही सब था।

●

दुनिया की औरतों तुम बिगड़ जाओ

यदि तुम्हारा पढ़ना, आगे बढ़ना
बिगड़ना है तो मैं कहती हूं
तुम जरुर बिगड़ो
यदि तुम्हारा पर्दा न करना बिगड़ना है
तो मैं कहती हूं
तुम जरुर बिगड़ो
यदि तुम्हारा बोलना सही-गलत के लिए
तर्क करना, बौद्धिक बनने को बिगड़ना कहता है समाज
तो मैं कहती हूं तुम खूब बिगड़ो
अपने हकों के लिए बहस करो, आगे बढ़ने के तर्क करो
यदि तुम्हें कोई टाप, पेंट-जींस पहनने को
बिगड़ना कहता है तो मैं कहती हूं
तुम जरुर बिगड़ो।
यदि कोई तुम्हारा साइकिल, मोटर साइकिल
कार चलाना बिगड़ना कहता है
तो मैं कहती हूं तुम खूब बिगड़ो।
यदि कोई तुम्हें नौकरी/ व्यवसाय करने को
बिगड़ना कहता है तो मैं कहती हूं
तुम खूब बिगड़ो हर संभव बड़ी से बड़ी
हसरत पूरी करके बिगड़ जाओ।
यदि कोई तुमको गायन-नृत्य को
बिगड़ना कहता है तो मैं कहती हूं
तुम खूब बिगड़ो, मेरी प्यारी बहनों/
बेटियों और माताओं खूब बिगड़ो
क्योंकि इस बिगाड़ के लिए
हमारे समाज सुधारकों ने बहुत
पसीना बहाया है
उसे जाया मत जाने दो।
इस संसार में उनके मुताबिक
अच्छा बनके देख लिया तुमने
यह संसार उतना ही तुम्हारा है जितना
तुम्हारे पिता, भाई, पति और बेटे का
अब संकोच मत करो
पंख फैलाओ और उड़ो, बिगड़ो
पूरी तरह...।

●

मुक्ति का झूठा ताज

उसने जीवन में
मुक्ति के स्वप्न देखे जरुर थे
मगर-
वह हर बार की तरह
आज भी हारी है
मन्नू भंडारी ने भी
लिखा था-
'मैं हार गयी'
मीनाक्षी सखी ने भी
कहा था-
'पुरुष कभी नहीं बदलता'
फिर क्या स्त्रियों की आजादी
एक छलावा है?
मंचों से बड़ी-बड़ी सुधार की बातें
धोखा हैं
बदलाव होता है
स्त्री में
वह बदलती रही है
अपनी आदतें
उसने सीखे हैं मर्दों के काम

उसने आजाद किया पुरुषों को
उनकी जिम्मेदारियां उठा ली हैं
अपने कंधों पर और
वह समझ बैठी थी उसमें
अपनी आजादी!
जो उसको कभी
मिली ही नहीं
पुरुष ने उसे कभी मन से
आजाद किया ही नहीं
उसने छिपा लिया पितृसत्ता का दंभ
वह ओढ़े रहा समानता की चादर
बस्स कभी-कभी उसने उस चादर को
रंग लिया था दूसरे रंग में
वह रंग जब उतर जाता है
तब वह अपने असली
चादर में दिखने लगता है
तब स्त्री
ठगी सी महसूस कर करती है
या यह भी उसके मन का
कोई छलावा है
वह टूट सी रही है
क्योंकि वह थक चुकी है
मुक्ति का झूठा ताज सिर पर उठाए।

●

'अम्बेडकर नाम है जीवन का'

अम्बेडकर उम्मीद है
निराशा में आशा का
अंधकार में रोशनी का
असमानता में समानता का
अन्याय में न्याय का
गैर बराबरी का बराबरी से
अवचेतना में चेतना का
गुलामी में आजादी का
अम्बेडकर रोशनी है
अशिक्षा में शिक्षा का
पशुता में मानवता का
हक हासिल करने का
अंधविश्वासों से प्रकाश की ओर
मुंह करने का
कूपमंडूतकता में तार्किकता
की ओर बढ़ने का
गरीबी में अमीरी तक लड़ने का
अम्बेडकर नाम है भाईचारे का
दुत्कार में भी गले लगाने का
जाति, लिंग भेद भूलकर
सहृदयता का पाठ पढ़ने का
अनेकता में एकता का
खंडता में अखंडता का
नफरत में प्यार का
हिंसा में अहिंसा का
धर्म में तर्क का
पूजा से ज्ञान का
भक्ति से विवेक का
आचार से विचार का
बेरोजगारी में रोजगार का
अम्बेडकर नाम है
अमर्यादा से मर्यादा का
उन्नत समाज बनाने
प्रगति की दिशा का
मृत से जीवन की उम्मीद का
सांस से आस का
इतिहास से वर्तमान का
अम्बेडकर अम्बेडकर अम्बेडकर
नाम है जीवन का ॥

–प्रो. रजत रानी 'मीनू'

●

An International Peer Reviewed Journal
Website : www.bahurinahiawana.in

IFFCO
पूर्णतः सहकारी स्वामित्व
Wholly owned by Cooperatives

इफको नैनो यूरिया (तरल)

विश्व का पहला नैनो उर्वरक

फसल उपज बढ़ाए

किसान की लागत करे कम

पर्यावरण प्रदूषण रोकने में सहायक

मृदा की पोषण गुणवत्ता बढ़ाए

500 मिली बोतल मात्र ₹ 240/- में

IFFCO
पूर्णतः सहकारी स्वामित्व
Wholly owned by Cooperatives

INDIAN FARMERS FERTILISER COOPERATIVE LIMITED
IFFCO Sadan, C-1 District Centre, Saket Place, New Delhi - 110017, INDIA
Phones : 91-11-26510001, 91-11-42592626. Website : www.iffco.coop